वार्षिक मूल्य—

भारत में	९ रु०
विदेश में	१५ रु०
एक प्रति	२.५० रु०

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्था पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२६ | खण्ड १०, अंक १ | अप्रैल-जून, १९६९,

विषय-सूची

इस अंक के लेखक, कलाकार (अकारादि क्रम से)

कन्हैया सिंह, प्रवक्ता, क. मा. मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

कान्ति कुमार, अध्यापक, हिन्दी विभाग, महाकोशल कला-महाविद्यालय, जबलपुर।

गोविन्दजी, शोधकर्त्ता, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

दिनकर कौशिक, अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

परशुराम चतुर्वेदी, प्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक, टाउन हाल, बलिया।

रणजीत कुमार साहा, शोध छात्र, हिन्दी भवन, शांतिनिकेतन।

राममूर्त्ति त्रिपाठी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन।

रामरघुवीर प्रसाद सिंह, अध्यापक, हिन्दी विभाग, आर० डी० एण्ड डी० जे० कालेज, मुंगेर।

राम पूजन तिवारी, रीडर, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

राम सिंह, अध्यापक, हिन्दी विभाग, गवर्नमेंट कालेज, पिठौरागढ़, उ. प्र.।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

विजेन्द्र नारायण सिंह, अध्यापक, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

विश्वनाथ बैनर्जी, अध्यक्ष, संस्कृत पाली तथा प्राकृत विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

संरचना शिल्पी—दिनकर कौशिक

विश्वभारतीपत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२६ खण्ड १०, अंक १ अप्रेल-जून, १९६९

पुनरावृत्ति

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

उस दिन युद्ध का समाचार अच्छा नहीं था। खिन्न होकर राजा बगीचे में घूमने गए। उन्होंने देखा, प्राचीर के पास पेड़ की छाया में बैठे खेल रहे हैं—एक छोटा लड़का और एक छोटी लड़की।

राजा ने उनसे पूछा, "तुम लोग क्या खेल रहे हो ?"

वे बोले, "आज हमारा खेल है—रामसीता का बनवास।"

राजा वहाँ बैठ गए।

लड़का बोला, "यह हमारा दण्डकवन है, यहाँ कुटी बनाता हूँ।"

वह टूटी डालियों, घास-पाले पत्तों का एक ढेर इकट्ठा कर लाया, भारी व्यस्त था।

और लड़की शाक पात लेकर खेलने के भगौने में बिना आग के राँध रही थी, राम भोजन करेंगे, उसी आयोजन के कारण सीता को एक क्षण का समय भी नहीं था।

राजा ने कहा, "और तो सब देख रहा हूँ, किन्तु राक्षस कहाँ है।"

लड़के को मानना पड़ा कि उनके दण्डकवन में कुछ कुछ कमी है।

राजा बोले, "अच्छा, मैं राक्षस बनूंगा।"

लड़के ने उसको अच्छी तरह देखा। उसके बाद बोला, "किन्तु तुमको हारना पड़ेगा।"

राजा बोले, "मैं बहुत अच्छी तरह हार सकता हूँ। परीक्षा करके देखो।"

उस दिन राक्षस-वध इतने सुचारु रूपसे होने लगा कि लड़का किसी तरह भी राजा को छुट्टी नहीं देना चाहता था। उस दिन एक बैठक में ही उनको अकेले ही दस बारह राक्षसों के स्थान पर मरना पड़ा। मरते मरते हाँफ गए।

त्रेतायुग में पञ्चवटी में जिस तरह पक्षी बोला था उस दिन वहाँ भी ठीक वैसे ही बोलने लगा। त्रेतायुग में सब्ज़ पत्तों के पर्दे पर्दे पर प्रभात आलोक ने जैसे कोमल ठाठ में अपना सुर बांधा था आज भी ठीक उसी सुर में बांधा।

राजा के मन से भार उतर गया।

मंत्री को बुलाकर उन्होंने पूछा, "लड़का लड़की दोनों किसके हैं ?"

मन्त्री बोले, "लड़की मेरी ही है, नाम रुचिरा है। लड़के का नाम कौशिक है, उसका बाप ग़रीब ब्राह्मण है, देवपूजा करके दिन बिताता है।"

राजा ने कहा, "जब समय आए इस लड़के के साथ इस लड़की का विवाह हो, यह मेरी इच्छा है।"

सुनकर मन्त्री को उत्तर देने का साहस नहीं हुआ, सिर नीचा किए रहे।

२

देश में जो सबसे बड़े पण्डित थे राजा ने उनके पास कौशिक को पढ़ने भेजा। उच्चवंश के जितने छात्र थे उनके पास पढ़ते थे। और रुचिरा पढ़ती थी।

कौशिक जिस दिन उनकी पाठशाला में आया उस दिन अध्यापक का मन प्रसन्न नहीं हुआ। और सबों को भी लज्जा लगी। किन्तु, राजा की इच्छा।

सबसे अधिक संकट रुचिरा को था। क्योंकि, लड़के कानाफूसी करते। लज्जा से उसका मुँह लाल हो जाता, क्रोध से उसकी आँखों से पानी गिरने लगता।

कौशिक यदि कभी पुस्तक उसके आगे कर देता तो वह पुस्तक को हटाकर दूर कर देती। यदि उससे पाठ की बात कहता वह उत्तर नहीं देती।

रुचि के प्रति अध्यापक के स्नेह की सीमा नहीं थी। कौशिक से सब विषयों में वह आगे निकल जावेगी यह उनकी प्रतिज्ञा थी, रुचि का भी यही प्रण था। लगा, ऐसा बड़ी आसानी से होगा, कारण कौशिक पढ़ता अवश्य किन्तु एक मन से नहीं। तैरने में उसका मन, वन में घूमने में उसका मन, वह गाता, वह बाजा बजाता।

अध्यापक भर्त्सना करते उससे कहते, "विद्या में तुम्हारा अनुराग क्यों नहीं है।" वह कहता मेरा अनुराग केवल विद्या में नहीं और भी अनेक चीज़ों में है।"

अध्यापक कहते, "वह सब अनुराग छोड़ो।"

वह कहता, "ऐसी स्थिति में विद्या के प्रति भी मेरा अनुराग नहीं रहेगा।"

३

इसी तरह कुछ समय व्यतीत हुआ।

राजा ने अध्यापक से पूछा, "तुम्हारे छात्रों में श्रेष्ठ कौन है?"

अध्यापक ने कहा, "रुचिरा"।

राजा ने पूछा, "और कौशिक?"

अध्यापक ने कहा, "उसने कुछ भी सीखा है ऐसा नहीं लगता।"

राजा ने कहा, "कौशिक के साथ रुचि का विवाह करने की मेरी इच्छा है।" अध्यापक कुछ हँसे, बोले, "यह जैसे गोधूलि के साथ उषा के विवाह का प्रस्ताव हो।"

राजा ने मन्त्री को बुलाकर कहा, "तुम्हारी कन्या के साथ कौशिक के विवाह में विलम्ब करना उचित नहीं है।"

मन्त्री बोले, "महाराज! मेरी कन्या इस विवाह के लिए अनिच्छुक है।"

राजा ने कहा, "स्त्रियों के मन की इच्छा क्या मुँह की बातों से समझी जा सकती है।"

मन्त्री बोले, "उसकी आँखों के आँसू जो साक्ष्य देते हैं।"

राजा बोले, "वह क्या सोचती है कि कौशिक उसके अयोग्य है।"

मंत्री ने कहा "हाँ यही बात है।"

राजा ने कहा, "मेरे सामने दोनों जनों की विद्या की परीक्षा हो।"

कौशिक की जीत होने पर यह विवाह सम्पन्न होगा।

दूसरे दिन मंत्री ने आकर राजा से कहा "इस प्रतियोगिता से मेरी कन्या सहमत है।"

४

विचारसभा प्रस्तुत है। राजा सिंहासन पर बैठे, कौशिक उनके सिंहासन के नीचे।

स्वयं अध्यापक रुचि को साथ लेकर उपस्थित हुए। कौशिक ने आसन छोड़कर उठकर उनको प्रणाम किया और रुचि को नमस्कार किया। रुचि ने आँखें नहीं उठाईं।

कभी पाठशाला की परिपाटी का पालन करने के लिए भी कौशिक ने रुचि के साथ तर्क नहीं किया। अन्य छात्र भी अवज्ञा करते हुए उसको वाद विवाद करने का अवसर नहीं देते। इसी से आज जब उसकी युक्ति के मुख पर तीक्ष्ण विद्रूप तीर का फल आलोक के समान झिलमिल करने लगा तब गुरु विस्मित हुए और विरक्त हुए। रुचि के माथे पर पसीना दिखा। वह बुद्धि को स्थिर नहीं रख सकी। कौशिक ने उसे पराभव के अन्तिम छोर पर ले जाकर छोड़ दिया।

चमत्कारतत्त्व और उसका स्वरूप

परशुराम चतुर्वेदी

हिंदी के संत साहित्य में हमें कभी-कभी बहुत से ऐसे प्रसंगों के भी उल्लेख मिल जाते हैं जो स्वयं संत कवियों के जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं जैसे दीख पड़ते हैं, किंतु जिनकी विलक्षणता हमें प्रायः आश्चर्यचकित भी कर दिया करती है। हम उनके तथ्य होने में सहसा विश्वास नहीं कर पाते और न इसी कारण, उनकी ओर यथेष्ट ध्यान देना उतना आवश्यक ही समझा करते हैं। उनमें से अनेक बातों को तो हम प्रायः प्रक्षिप्त समझकर भी, उनपर विचार नहीं करना चाहते तथा उन्हें कभी-कभी टाल तक भी दिया करते हैं। परंतु जब हम उनमें से कई का उल्लेख, प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाओं के संस्करणों तक में भी किया गया पाते हैं तो हमारे लिए, सिवाय इसके कि उन्हें केवल कोई चामत्कारिक प्रसंग मानकर आगे बढ़ जायं दूसरा कोई चारा नहीं रह जाता। उक्त प्रकार के स्थल अधिकतर उन परिचइयों, भक्तमालों तथा गोष्ठियों जैसी रचनाओं के अंतर्गत पाये जाते हैं जो प्रसिद्ध संतों के किन्हीं शिष्यों, प्रशिष्यों अथवा उनके परवर्ती प्रशंसकों द्वारा लिखी गई रहती हैं। इस दशा में हमारे लिए उन्हें कभी कभी अतिशयोक्तिपूर्ण निराधार अथवा कपोलकल्पित तक भी कह देना संभव रहा करता है और इस कारण, हम उन्हें यों भी कोई महत्व देना नहीं चाहते। परन्तु जब कभी हम इस प्रकार की चर्चा स्वयं वैसे संतों की ही ओर से की गई पाते हैं तथा उनके प्रति अपनी श्रद्धा रहने के कारण हम उसे सर्वथा अविश्वसनीय भी नहीं ठहरा पाते तो वैसी दशामें, हमें प्रायः स्तब्ध तक रह जाना पड़ता है अथवा इस संबंध में हमारे भीतर कोई ऐसा कुतूहल जाग्रत हो उठता है कि क्यों न हम इसका रहस्य जान लेने का भी कुछ यत्न करें। इस प्रकार हमारे सामने कभी-कभी ऐसे प्रश्न आपसे आप आ जाते हैं कि, यदि वैसी बातों को तथ्यवत् स्वीकार कर लिया जा सके तो, क्या हम इसके समर्थन में कोई तर्कसंगत आधार भी प्रस्तुत कर सकते हैं? अथवा क्या कभी हमारे लिए ऐसा करना कहीं संभव भी हो सकता है? अतएव, यह स्पष्ट है कि ऐसे संदर्भ में हमारा अपने उस कथन के वास्तविक अभिप्राय को एक बार भलीभांति समझ लेना, आवश्यक होगा जिसका प्रयोग हम अभी तक उपर्युक्त स्थलों को केवल चामत्कारिक प्रसंग मान लेते समय, करते चले आये हैं।

'चामत्कारिक' प्रसंगवाला 'चामत्कारिक' शब्द यहां पर विशेष रूप में उल्लेखनीय है। इसके मूल रूप चमत्कार के प्रथम अंश 'चमत' को यदि (किसी अपूर्व 'चमक' के अर्थ में)

आश्चर्य का बोधक मान लिया जाय तथा इसीप्रकार, इसके द्वितीय अंश 'कार' को भी (नमस्कार, बहिष्कार आदि वाले 'कार' की भांति) 'कार्य' शब्द का एक पर्याय स्वीकार कर लिया जाय तो, उस पूरे का अर्थ वा आशय कुछ इस प्रकार विलक्षण हो जाता जान पड़ेगा जो हमारी समझ के बाहर की बात होगी। वास्तव में इसके कारण हमारे भीतर कोई एक ऐसा विचित्र मनोविकार उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप हम न केवल चकित हो जाते हैं, अपितु उसे सर्वथा रहस्यपूर्ण तक भी मान लिया करते हैं और उसे महत्व प्रदान करने लग जाते हैं। इस चमत्कार के अर्थ बोधक अंग्रेजी शब्द मिरेकुल के लिए भी बहुधा यही कहा गया मिलता है कि "इसका अनुभव हमें किसी ऐसी अतिप्राकृतिक घटना के रूप में होता जान पड़ता है जो अभी तक ज्ञात प्राकृतिक नियमों से भिन्न प्रकार घटित होगी तथा इसीकारण, जिसका केवल सर्वशक्तिमान द्वारा ही प्रस्तुत किया जाना कभी संभव भी हो सकता है।"१ इसप्रकार इसका संबंध 'ईश्वरीय विद्या' के ही साथ हो सकता है। इसी बात को एक अन्य प्रसिद्ध 'कोश' के अंतगत इस रूप में भी कहा गया है। मिरेकल मनुष्य के अनुभव में आनेवाली वह विलक्षण घटना है जो किसी मानवीय शक्ति के द्वारा घटित नहीं कही जा सकती अथवा हो सकती और न तो जिसे किसी प्राकृतिक कारण से ही उत्पन्न कह सकते हैं तथा, इसी कारण, जिसे अस्तित्व में लाने का श्रेय स्वयं परमेश्वर अथवा किसी अति प्राकृतिक सत्ता को ही दिया जा सकता है, विशेषकर यह एक ऐसा कार्य (जैसे, किसी रोग से मुक्त कर देना) है जिसमें प्राकृतिक नियमों के ऊपर अधिकार का होना जान पड़ता है तथा जिससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि उसका 'कर्ता' या तो ईश्वर होगा अथवा कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जो उसके द्वारा विशेष रूप से अनुगृहीत हो।२ अतएव हमें ऐसा लगता है कि चमत्कार अथवा उक्त मिरेकुल एक ओर जहां कोई ईश्वर प्रेरित कार्य होगा वहां दूसरी ओर यह कल्याण कारक अथवा वरदान स्वरूप भी हो सकता है तथा इसके संबंध में किसी अनिष्ट की आशका करना हमारे लिए उचित नहीं कहला सकता। हम इसी कारण, इसे कदाचित् विशेष महत्व प्रदान करना भी चाहते हैं कि यह एक ईश्वरीय देन है जिससे लाभ उठाना सदा मगलकारी होगा।

---

१. एन अमेरिकन डिक्शनरी अव् द इंग्लिश लैंग्वेज बाय नोएल वेब्स्टर।

२. एन्यू इंग्लिश डिक्शनरी आन हिस्टारिकल प्रिंसिपल्स, खण्ड ६ बाय सर जेम्स ए० एच० मरे।

किन्तु इसके विपरीत, अनेक अन्य ऐसी बातें भी हो सकती हैं जो हमें आश्चर्यजनक जान पड़ती होंगी तथा जिनके रहस्यपूर्ण दीख पड़ने के कारण, उनके पीछे काम करनेवाली किसी शक्ति अथवा उसके लिए लागू होनेवाले किन्हीं नियमों का पता न चले। इसके सिवाय ऐसी बातों के संबंध में, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता भी होगा कि ये कभी हमारे लिए कल्याणकारक भी होंगी। उदाहरण के लिए, किसी जादूगर के द्वारा अस्तित्व में ला दी जानेवाली विभिन्न घटनाओं के विषय में भी ऐसा समझा जाता है कि वे किसी रहस्यमयी शक्ति के कारण घटित होती हैं तथा उसका जो कुछ परिणाम हमारे सामने दीख पड़ता है उसे हम ज्ञात प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध जाता हुआ तक भी पाया करते हैं। परन्तु हम उन्हें उपर्युक्त चमत्कारों की कोटि में नहीं गिना करते और न उनके द्वारा सदा अपना कोई कल्याण होना ही देखा करते हैं। यहां पर हम केवल इतना ही मान लिया करते हैं कि अमुक व्यक्ति (जादूगर) ने किसी प्रकार अज्ञात प्राकृतिक नियमों पर भी अपना अधिकार जमाकर उसके अनुसार वैसी स्थिति उत्पन्न कर दी होगी जो हमें सर्वथा अभूतपूर्व-सी जान पड़ती है। इसके सिवाय हमें इस संबंध में कभी-कभी यहां तक भी पता चल जाता है कि उसने इसके लिए कतिपय तंत्रों, मंत्रों, यंत्रों, युक्तियों, टोटकों आदि से कुछ सहायता भी ली होगी। किसी जादूगर का साधन, उसके लिए बराबर स्पष्ट वा सुनिश्चित रहा करता है और वह सदा किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि भी चाहता है। वह अपनी युक्ति विशेष के बल पर कोई ऐसा कार्य तक भी करा लेता है जिसका परिणाम दूसरों के लिए अनिष्टकर सिद्ध होता है। इसी कारण जादूजनित उपलब्धि को हम स्वभावतः उस विशुद्ध चमत्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया करते जिसे हम किसी दैवी अनुग्रह के आधार पर आपसे आप प्रतिफलित होता हुआ देखते हैं तथा जिसके कारण हमें किसी हानि की आशंका भी नहीं होती। कहते हैं कि तिब्बत के प्रसिद्ध लामा संत मिलारेपा ने अपने प्रारम्भिक जीवन-काल में, केवल जादू के ही बल से अपने उन कुटुम्बियों के धन एवं जन का पूर्ण संहार कर दिया था जिन्होंने उनकी पैतृक सम्पत्ति हड़प ली थी। परन्तु जब उन्हें पीछे इसके लिए घोर पश्चात्ताप हुआ तो अंत में, उन्होंने इसके प्रायश्चित्त रूप में आध्यात्मिक साधना की शरण ले ली थी।[३]

इसी प्रकार जादू वस्तुतः कोई ऐसी 'विद्या' है जिसे हम धार्मिक क्षेत्र से बहुधा पृथक् रखना चाहते हैं। यह कोई ऐसी कला है जिसे हम सर्वथा व्यावहारिक मान ले सकते हैं तथा जिसका प्रयोग हम किसी स्पष्ट लक्ष्य को प्राप्ति के ही लिए किया करते हैं। किंतु धर्म के लिए

---

३. डब्ल्यू वाई० इवान्स वेंज टिबेट्स ग्रेट योगी मिलारेपा, इन्ट्रोडक्शन पृ० ३।

कहा जा सकता है कि उसके उपलक्ष्य में किये जानेवाले कृत्यों का समुदाय, अपने उद्देश्य की पूर्ति, स्वय बन जाया करता है।[४] इसी प्रकार जादू को हम कभी विज्ञान के क्षेत्र में भी नहीं ला सकते क्योंकि यहां पर न तो उसमें जैसे उन स्वतंत्र निरीक्षणों या प्रयोगों की आवश्यकता रहा करती है और न किन्हीं प्राकृतिक नियमों की जानकारी ही अपेक्षित होती है। यहां केवल किसी ऐसे प्रशिक्षण द्वारा ही काम चल जाया करता है जो, चिरकाल से, परंपरागत रूप में अपनाया जाता आया है तथा जिसमें कोई सहायता भी केवल उन जादूगरों द्वारा ही मिल सकती है जो उसमें दक्ष रहने के साथ ही उसे गुप्त रूप से सुरक्षित भी रखते आये हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि जादू बहुत प्राचीनकाल से केवल किन्हीं विशेषज्ञों के ही हाथ में रहता भी चला आया है जहां धर्म अथवा विज्ञान के द्वार सदा सब किसी के लिए प्राय एक समान खुले रहते आये हैं। इनके क्षेत्रों में काम करने वा भाग लेने का अधिकार भी उन सभी का समझा जाता आया है जिन्होंने यथोचित महत्व प्रदान करने का कभी कोई प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों ही दशाओं में किसी परोक्ष शक्ति का सहारा लेना अनिवार्य-सा जान पड़ता है, किन्तु एक धार्मिक व्यक्ति जहां उसे अपने अनुनय-विनय द्वारा आकृष्ट करके, उसके प्रति अपनी ओर से कुछ निवेदन करने मात्र पर भी, सन्तोष ग्रहण कर लेना चाहता है, वहां कोई जादूगर उसे कुछ न कुछ ठोस कार्य कर देने के लिए वस्तुत विवश तक भी कर देता समझ पड़ता है। इस प्रकार चमत्कार के ऊपर विचार करते समय, हमारे लिए अधिक स्वाभाविक यही होगा कि हम इसे मुख्यत· धार्मिक क्षेत्र से सबद्ध मानकर आगे बढ़ें। इस दशा में हमारा ध्यान उन अनेक प्रकार की सिद्धियों की ओर भी जा सकता है जिन्हें, किसी न किसी धार्मिक साधना का प्रयोग विशेष की परिणति होने के ही कारण, वैसा नाम भी दिया गया प्रतीत होता है तथा जिनके द्वारा अस्तित्व में लाया कार्य भी कुछ कम रहस्यपूर्ण नहीं हुआ करता।

सिद्धियों के विषय में चर्चा करते समय, पतंजलि ने योग सूत्र में[५] कहा है कि ये पांच प्रकार की होती हैं। इसप्रकार इन्हें वहां पर क्रमश· जन्म से, औषधि से, मंत्र से, तप से अथवा समाधि के द्वारा उपलब्ध होने वाली तक भी बतला दिया गया है। उसके अनुसार कुछ सिद्धियां किसी व्यक्ति के जन्मकाल से ही उसमें आ गई पायी जाती है, कुछ ऐसी

---

४. ब्रानिस्ला मैलिनोवस्की : मैजिक, साइन्स ऐंड रेलिजन (न्यूयार्क, १९४८ ई०) पृ० ८८।

५. जन्मोषधि मन्त्रतप समाधिजा सिद्धयः ॥१॥(कैवल्यपाद)

होती है जो किसी किसी के भीतर, उसके औषधि विशेष का सेवन करने से विचित्र शक्ति के रूप में उत्पन्न हो जाती है, कुछ के प्राप्त होने के कारणों में मंत्र-साधना को श्रेय दिया जाता है, कुछ को तपोबल के आधार पर उपलब्ध किया जाता है तथा कुछ ऐसी भी होती है जिन्हें हम समाधि का परिणाम भी ठहरा सकते हैं। इनमें से कम से कम औषधि एवं मंत्रों के द्वारा प्राप्त की गई सिद्धियों को हम, जादू विद्या के क्षेत्र में भी, प्रयुक्त होती पाते हैं। परन्तु उस दशा में, इसका उद्देश्य प्रधानतः किसी आसुरी शक्ति को प्राप्त कर लेना तथा भौतिक देवादि को आकृष्ट कर देना रहा करता है जिसके आधार पर अपने मनोवांछित कार्य को सम्पन्न कर लिया जा सके, चाहे उसका परिणाम अनिष्टकारक ही क्यों न होता हो। अतएव, हानिकारक प्रयोगों को जहां काला जादू (ब्लैक मजिक) जैसा नाम दिया जाता है, वहां उनके द्वारा किसी मात्रा में लाभ पहुँचता देखकर भी उन्हें, अधिक से अधिक सफेद जादू (व्हाइट मैजिक) जैसी ही संज्ञा प्रदान कर दिया करते हैं। परन्तु सिद्धियों को उपलब्ध कर लेने पर किसी इस प्रकार के भेद की संभावना नहीं रहा करती, क्योंकि इस दशा में किसी अनिष्ट के आने की कोई कल्पना भी नहीं की जाती। 'सिद्धि' शब्द का अर्थ सफलता पूर्णतः यथेष्ट परिणति अथवा कभी-कभी 'मुक्ति' के द्वारा भी सूचित किया जाता है और इसकी उपलब्धि के लिए असाधारण साधन एवं प्रयास अपेक्षित है तथा इसके साथ ही कठोर अनुशासन की भी आवश्यकता पड़ती है बौद्धों की धारणा के अनुसार इसके फलस्वरूप कुछ ऐसी अति-प्राकृतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जो उनके अंतिम लक्ष्य 'निर्वाण' की उपलब्धि में पूरी सहायता पहुंचा सकती है तथा इसका वास्तविक रूप 'अभिज्ञा' अर्थात् पूर्वज्ञान सा हुआ करता है। इस अभिज्ञा के भी पांच भेद बतलाये गये हैं जिनमें (१) सिद्धि, (२) दिव्यचक्षुस्, (३) दिव्यश्रोत (४) परचित्तज्ञान एवं (५) पूर्वनिवासानुस्मृति सम्मिलित हैं जिनका आशय क्रमशः पूर्ण योग्यता, देखने की दिव्यशक्ति, सुनने की दिव्यशक्ति, दूसरे के मन की बातों का ज्ञान तथा अपने पूर्वजन्म की बातों का पूरा ज्ञान के द्वारा प्रकट किया जा सकता है।[६] किंतु यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि तांत्रिक बौद्धधर्म के अनुसार कभी कभी उन आठ सिद्धियों का भी उल्लेख किया गया मिलता है जिन्हें तिब्बती लामाओं के धर्मग्रंथों में (१) अतिप्राकृतिक शक्ति (२) दीर्घायु (३) दीर्घायु की औषधि (४) गुप्तधन की प्राप्ति (५) इन्द्र के परिचरों में प्रवेश (६) स्वर्ण निर्माण (७) पृथ्वी को स्वर्णमयी कर देने की शक्ति तथा (८) चिन्तामणि को हस्तगत कर लेना कहा गया है। इनमें से भी प्रथम, तृतीय तथा पंचम को सर्वोत्तम चतुर्थ, सप्तम एवं अष्टम को

---

६. मेर्चेआ एलिआदे · योग, इम्मार्टलिटि एंड फ्रीडम (लंदन १९५८ ई०) पृ० १७८।

मध्यम तथा द्वितीय एवं षष्ठ को निकृष्ट समझा जाता है।७ इस प्रकार कुछ अंशों में हम यहां तक भी अनुमान कर सकते हैं कि इनमें से कुछ को जादूगरी वाली कोटि में भी रखा जा सकता है।

इसके सिवाय भारतीय बौद्ध सिद्धों के लिए भी कहा जाता है कि वे 'कायप्रवेश कर सकते थे, वायुमंडल में उठकर सभी ओर विचरण कर लेते थे, आकाश में वर्त्तमान प्राणियों से बातचीत कर सकते थे, अपनी इच्छा के अनुसार सभी कुछ प्राप्त कर लेते थे, देवी-देवताओं तथा स्त्री पुरुषों को अपने वश में ला दिया करते थे, केवल आंखों से देखकर ही किसी रोगी को नीरोग कर दिया करते थे। इसके साथ ही उनमें ऐसी शक्ति आ जाती थी कि वे सर्वज्ञ बन जाने के अतिरिक्त, यदि चाहते थे तो स्वयं निर्वाण की दशा तक को उपलब्ध कर लेते थे।८ अतएव हमारा इनके विषय में भी ऐसा अनुमान कर लेना कदाचित् अनुचित न होगा कि इनकी अनेक बातें जादूगरों के साथ मिलती-जुलती रहीं तथा इनका भी ध्यान जितना सांसारिक जीवन संबंधी लाभों को प्राप्त करने की ओर था उतना आध्यात्मिक बातों की ओर नहीं था।

इसी प्रकार 'जैन मंत्रवाद' का परिचय देते हुए भी, कहा जाता है कि इस संबंध में वहां पर लगभग एक ही प्रकार काम देने वाली, 'मन्त्र' एवं 'विद्या' नामक दो साधनाओं के प्रयोग किये गये मिलते हैं जिनमें से प्रथम की दशा में, जहां कोई पुरुष देवता उद्दिष्ट रहा करता है तथा कोई कार्य पद्धति विशेष आवश्यक नहीं समझी जाती, वहां द्वितीय प्रकार की साधना, किसी देवी को लक्ष्य करके की जाती है तथा जिसके लिए विशिष्ट विधियों का सम्पादन भी अनिवार्य हुआ करता है। इन दोनों के ही परिणामस्वरूप, जब कोई इष्ट प्रसन्न हो जाता है तो वह साधक से वरदान मांगने के लिए कहता है अथवा वह उसे कमसे कम आठ प्रकार के 'निमित्त' (सिद्धि) प्रदान कर दिया करता है जिनके बल पर 'सर्वज्ञ' बन कर इसे सर्वशक्तिमत्ता तक भी प्राप्त हो जा सकती है। फलतः जैनधर्म के अंतर्गत 'मंत्रवाद' को 'योगपदस्थ ध्यान' का पद मिलता आया है और इसकी सहायता से आत्मोपलब्धि की स्थिति का अस्तित्व में आ जाना भी स्वभावतः सरल बन जा सकता है। इसके सिवाय इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली सिद्धि के क्रमशः तीन उत्तरोत्तर स्थल भी निर्धारित किये जा सकते हैं जिनमें से प्रथम जहां किसी

---

७. आर० पी० अनुरुद्ध: ऐन इंट्रोडक्शन इंटु लामाइज्म (होशियारपुर, पंजाब १९५९ ई०) पृ० १३२।

८. विंटरनित्ज: हिस्ट्री आफ इंडियन लिट्रेचर भाग २, पृ० ३९०-१।

व्यक्तिगत कल्याण तक से ही सम्बद्ध रहता है वहां द्वितीय का संबंध समष्टिगत कल्याण तक पहुंच जा सकता है। इसी प्रकार अंतिम अर्थात् तृतीय के लिए कहा जा सकता है कि उसकी स्थिति में, कोई साधक बाह्य वा सांसारिक क्षेत्र से ऊपर उठकर आत्मानुभूति की उस उन्चतम दशा को भी प्राप्त कर ले सकता है जिसे जैनधर्म के अनुसार परम अभीष्ट समझा जाता है। इस धर्म के क्षेत्र में नैतिकता एव विचारगत उदारता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है तथा इसके लिए यहां कठोर नियम भी प्रचलित है जिस कारण विहित अनुशासन को भंग करने वाले यहां पर 'विह्वत्र' कहलाकर प्राय वहिष्कृत भी किये जा सकते हैं।९ इस प्रकार किसी जैनधर्मी सिद्ध के लिए कहा जा सकता है कि वह अपनी उपर्युक्त प्रथम अर्थात् व्यक्तिगत उत्कर्ष वाली दशा में भी, कभी कोई ऐसा कार्य करना पसद नहीं कर सकता जिसे 'शील' के विरुद्ध कहा जा सके। परतु जैन मंत्रवाद के ही ग्रथ 'श्री भैरव पद्मावती कल्प' के देखने से पता चलता है कि उसका एक बहुत बड़ा अंश निम्नकोटि की आकांक्षाओं की तृप्ति से संबद्ध है। उदाहरण के लिए उसके पांचवे 'अधिकार' (अध्याय) के अन्तर्गत किसी दूसरे की गति पंगु कर देने, छठे में स्त्रियों को आकृष्ट करके उन्हें प्रभावित करने, सातवे में दूसरों को अपने वश में लाने, नौवे में विविध औषधियों के प्रयोग द्वारा चकित वा स्तंभित कर देने जैसी सिद्धियों के प्राप्त कर सकने की चर्चा की गई है,१० जिन्हें हम उपर्युक्त जादूगरो वाली सफलता से उच्चतर कोटि की नहीं ठहरा सकते। इसमें सन्देह नहीं कि यहां पर भी हमें कहीं मद्य, मांस, मीन, मुद्रा एव मैथुन वाले यत्र 'म' कारों को अपनाने जैसा कोई स्पष्ट विधान लक्षित नहीं होता, किंतु जिन स्त्रियों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने के प्रसंग यहां आते हैं वे तो, कम से कम दूसरों की पत्नियां तक भी हो सकती हैं। अतएव इसका समाधान केवल इस दृष्टि के अनुसार हो किया जा सकता है, कि जिस काल (अर्थात् ११ वीं ईस्वी शताब्दी) के अंतर्गत उक्त ग्रथ का रचनाकाल समझा जाता है, उस समय तक तांत्रिक प्रभाव बहुत अधिक बढ़ चुका था और वैसी बातों को महत्व प्रदान करना उन दिनों उतना अनैतिक नहीं माना जाता रहा होगा।

योगशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित सिद्धियों को उपलब्ध करने के साधनों का उल्लेख हम इसके पहले कर आये हैं। हमने वहां पर यह भी देखा है कि उनमें से कम से कम दो अर्थात्

---

९. एम्० बी० झावेरी कम्पेरेटिव एंड क्रिटिकल स्टडीज़ आफ मन्त्रशास्त्र (अहमदाबाद सन् १९४४ ई०) पृ० १४७ और २९३-४।

१०. दे० वही पृ० २४-९, ३०-५, ३३-४४, ५३-६१ आदि।

औषधि एवं मंत्रों के द्वारा प्राप्त की जानेवाली इन कतिपय शक्तियों के प्रयोग हमें 'जादूविद्या' के क्षेत्र में भी किये जाते मिलते हैं। हिन्दू धर्मग्रंथों के अंतर्गत प्राय उन अष्ट महासिद्धियों की भी चर्चा की गई पायी जाती है जिनमें से (१) अणिमा के अनुसार अपने को परमाणु का सा हल्का कर लेना। (२) गरिमा' के अनुसार अपने को चाहे जितना भारी बना लेना। (३) 'लघिमा' के अनुसार अपने को छोटे से छोटा और (४) 'महिमा' के अनुसार उसी प्रकार बड़े से बड़ा बना लेना (५) प्राप्ति के बल से गुप्त से गुप्त वस्तुओं को भी प्राप्त कर लेना (६) 'प्राकाम्य के द्वारा चाहे जहां भी हो पहुंच जाना (७) 'ईशित्व' की सहायता से दूसरों की रक्षा में समर्थ हो जाना तथा (८) 'वशित्व' के आधार पर किसी को अपने वश में कर लेना संभव बन जा सकता है। इनमें कदाचित् कोई भी ऐसी नहीं जिनका उपयोग हम अपने साधारण सांसारिक जीवन में भी न कर सकें तथा इस प्रकार जिनसे अनुचित लाभ तक भी न उठा सकें। अतएव स्वय पतंजलि के सूत्रों में भी, एक स्थल पर स्पष्ट शब्दों में कहा गया मिलता है कि ऐसी सिद्धियां, केवल 'व्युत्थान' काल अर्थात् किसी योगी के 'व्युत्थित चित्त' रहते समय ही 'सिद्धि' कहला सकती हैं। वास्तविक समाधि की दृष्टि से तो उन्हें केवल 'उपसर्ग' अर्थात सर्वथा विघ्नरूप ही ठहराया जा सकता है।११ यहां पर उससे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह हो सकती है कि इन सिद्धियों का मूल्य, वस्तुत इनके अंतिम लक्ष्य अथवा उद्देश्य के आधार पर निर्धारित किया जाय। समाधि की स्थिति से हमारा स्थूल अभिप्राय, साधारणत अपनी चित्तवृत्तियों की उस आदर्श रूप में संतुलित अवस्था से हुआ करता है जिसके फलस्वरूप हमें न केवल आत्मस्वरूप का बोध हो जा सके, अपितु अपने जीवन-यापन का समुचित मार्ग भी प्रशस्त हो जाय जब तक हमारी ये वृत्तियां यथेष्ट व्यापक और उदार नहीं बन जाती और न इन्हें यथोचित परिप्रेक्ष्य रूप में किसी भी ओर उन्मुख बने रहने का हमें सहज अभ्यास ही पड़ जाता तब तक हम इनके अनुसार प्राप्त की गई किसी भी सफलता को पूरा महत्त्व नहीं दे सकते, उपर्युक्त प्रकार की सिद्धियों के द्वारा योग्यता का अर्जन करके चाहे जिस किसी भी सीमित क्षेत्र में अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर ली जाय हम इसे उस अभीष्ट की पूर्ति के भी लिए कभी-कभी पर्याप्त नहीं ठहरा सकते जिसे हम सदा अपना अंतिम ध्येय मानते आये हैं तथा जिसकी उपलब्धि के लिए विश्व के महान् पुरुषों तक को बराबर यत्न करना पड़ा है।

जहां तक पता चलता है प्राचीन युग वाले मानव को वैसी सिद्धियों के लिए सचेष्ट होना

---

११. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय। पातंजल योग सूत्र, विभूतिपाद सूत्र ३७।

उतना आवश्यक भी न था। उन दिनों के लोगों की जीवन चर्या अपेक्षाकृत अधिक सरल रहा करती थी तथा वे अपने अकृत्रिम ऐहिक जीवन को सुखमय बनाने मात्र के ही लिए प्रयत्न करना अपना कर्तव्य माना करते थे। वे इसके लिए विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों का सहयोग प्राप्त कर अथवा उसके उपयुक्त साधनों का सहारा लेकर अपने किसी उद्देश्य की पूर्ति कर लेना चाहते थे। तदनुकूल देवताओंका आवाहन करते, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया करते, कभी उनके प्रीत्यर्थ कतिपय कृत्यों का आयोजन करते तथा ऐसे अवसरों पर कठोर साधनाओं तक में भी प्रवृत्त हो जाया करते थे। अतएव यदि आजतक उपलब्ध एवं सबसे प्राचीन समझे जानेवाले भारतीय वैदिक साहित्य के आधार पर, अनुमान किया जा सके तो हम कह सकते हैं कि उसके रचनाकाल वाले आर्यों ने इसी संबंध में, अपने प्रार्थना परक मन्त्रों का प्रयोग किया होगा, यज्ञादि का अनुष्ठान किया होगा, विविध उपयुक्त वनस्पतियों से काम लिया होगा तथा अपने इष्ट देवों-देवियों की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से, अपने शरीर को तपा देने का विचार तक भी किया होगा। हमें यहां पर अनेक ऐसी आश्चर्यजनक बातों के स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं जिनको यहां इन्द्र, वरुण अश्विन, आदि की रहस्यपूर्ण सहायता द्वारा सम्पन्न किया जाना बतलाया गया है तथा इसके लिए उन देवताओं के प्रति अपनी ओर से कभी-कभी हार्दिक आभार तक भी प्रदर्शित किया गया है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि वय्य की प्राथना पर इन्द्रदेव ने नदी को बाढ़ को उमड़ती हुई धारा को रोक लिया और इस प्रकार उसे लांघकर दूसरे पार पहुच जाने के योग्य बना दिया जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट की गई।१२ तथा, इसी प्रकार आश्विनों ने अत्यन्त वृद्ध एव जराजीर्ण ऋषि च्यवन की पुकार पर उनके निकट जाकर उन्हें एक बार फिर से युवावस्था प्रदान कर दी और उन्हें सुन्दर शरीर मिल गया।१३ अश्विनों द्वारा 'शयु' की बन्ध्या एवं निर्बल गाय को यथेष्ट दूध देनेवाली बना दिया जाना भी बतलाया गया है।१४ वशिष्ठ मुनि का इन्द्रदेव की सहायता से बाढ़ के कारण उमड़ी हुई नदी को राजा सुदास के लिए पार करने योग्य बना देना तथा इसी प्रकार उनके शत्रुओं के वहां पहुँचने तक उसे फिर पूर्ववत् जल से पूर्ण कर देना भी एक स्थल पर कहा गया है। इस सबध में यह उल्लेखनीय है कि, उक्त प्रकार आश्चर्यजनक घटनाओं को अस्तित्व में लाने के लिए, जो प्रार्थनाएं की

---

१२. ऋग्वेद (मंडल २, सूक्त १३, मंत्र १२)

१३. युव च्यवान मश्विना जरन्तं पुनर्युवान चक्रयु शचीभि. ॥
युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सहश्रिया नासत्यावृणीत च ॥१३॥ म० १ सू० ११७)
दे० मं० १ सू० ११६ मं० १०७ भी।

१४. वही, मंत्र २२ तथा म० १ का सूक्त १८ ॥

गई मिलती हैं वे भी अपूर्व हैं। उनके द्वारा कोढ़ जैसे रोगों को दूर किया गया है, अपनी आंखों की नष्ट ज्योति प्राप्त कर ली गई है तथा बहुत से कष्ट झेलने वाले अथवा घोर विपद्ग्रस्त प्राणियों को सुखी एव समृद्ध बना दिया गया है जिसे प्रत्यक्षतः चमत्कार ही कहा जा सकता है।

इन तथा अनेक इन जैसे अन्य उदाहरणों के भी आधार पर वैदिक साहित्य के अंतर्गत उल्लिखित चमत्कारपूर्ण प्रसंगों की प्रमुख विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया जाता है तथा तदनुसार इनसे बहुत भिन्न बतलायी जानेवाली जादूभरी घटनाओं को इनसे सर्वथा पृथक् वर्ग में स्थान देने के लिए कई तक भी उपस्थित किये जाते हैं। डा० परब ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्यवाले कवि का इष्टदेव जहां उसकी बातें, उसके भक्तिभाव तथा पूजन से प्रभावित होकर तथा उसके प्रति प्रेमासक्त बन कर मान लेता है, वहां ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि, जादूगर द्वारा आमंत्रित भौतिक शक्तियां उसकी मंत्रशक्ति से भयभीत होकर ऐसा किया करती हैं। जादूगर का बल जहां केवल मंत्रों पर ही आधारित रहा करता है, वहां वैदिक ऋषि को सहायता, मत्रों एवं यज्ञों के अतिरिक्त, देवी अनुग्रह से भी मिल जाती हैं—जादूगर के मंत्रों में ऐसे शब्द और अक्षर मिलते हैं जो किसी अवसर विशेष के लिए सदा उपयुक्त भी नहीं कहे जा सकते, किंतु वैदिक ऋषि वाले मत्रों के अतर्गत बराबर अर्थपूर्ण एवं सुसगत शब्दों का ही समावेश किया गया रहता है। यहा तक कि अथर्ववेद वाले ऐसे मंत्रों में भी कहीं पर नग्न जादूगरी के लक्षण नहीं पाये जाते। वैदिक मंत्रों के भीतर एक ऐसी सफल प्रेरणा काम करती दीख पड़ती है जिसका अपना कोई न कोई एक लक्ष्य रहा करता है तथा औषधों एव मत्रों में निहित भौतिक शक्तियों तक की भी या तो चाटुकारी की गई पायी जाती है अथवा उन्हें केवल इस प्रकार आशकित ही कर दिया गया मिलता है कि यदि वे अपने कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सिद्ध होंगे तो, अपना कार्य उनसे बड़ी शक्तियों द्वारा भी करा लिया जा सकेगा।"[१५] इसके सिवाय, जैसा हमके पहले भी कहा जा चुका है जादूगरी जनित परिणाम जहाँ प्राय अनिष्टकर भी हुआ करते हैं, वहां वैदिक साहित्य वाली वैसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं में इस बात की आशका बहुत कम हो जा सकती है।

ऋग्वेद के अंतर्गत हमें जादूपरक प्रतिमाओं के केवल एकाध ही उदाहरण मिलते होंगे जहां उसके अधिकांश मंत्रों को हम उनसे अछूता ही पाते हैं और इनमें एक ओर जहां

---

१५. डा० परब : मिरक्युलस ऐंड मिस्टीरियस इन वैदिक लिटरेचर (बबई सन् १९५२ ई०) पृ० १३३।

अतिप्राकृतिक शक्ति प्रदर्शन के लिए, अनुनय-विनय किया गया मिलेगा, वहां दूसरी ओर इसके फलस्वरूप कुछ अभूतपूर्व परिवर्तन भी आ गया दीख पड़ता है। ऋग्वेद वाले ऐसे मन्त्रों का स्रष्टा हमें कोई एक ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति जान पड़ता है जिसे न केवल अपने इष्टदेव के प्रत्यक्ष विद्यमान रहने अपितु जिस की प्रार्थना के अनुसार अपने मनोभिलषित परिणाम के अस्तित्व में आ जाने पर भी पूर्ण विश्वास रहा करता है। परन्तु जहां तक हमें पता चलता है, इस प्रकार की आस्था हमें फिर पीछे काम करती हुई नहीं दीख पड़ती तथा अथर्ववेद वाले ऐसे मंत्रों के निर्माणकाल तक उसका स्थान कतिपय विशिष्ट युक्तियां मात्र ग्रहण कर लेती हैं जिनके वैसे प्रयोगों में लक्षित होनेवाली कुशलता के सामने स्वयं इष्ट देवों की अपनी शक्ति तक भी निष्प्रभ प्रतीत होने लगती है। ये इष्टदेव, वस्तुत पीछे की पंक्ति में ला दिये गये से जान पड़ते हैं और प्रयोगदक्ष 'पुरोहित' अपने मन्त्रों के बल पर वहां 'सर्वेसर्वा' जैसा बन गया दीखने लगता है। वह अब इतना धृष्ट हो जाता है कि अपनी मंत्रशक्ति को सम्बोधित करके वह कदाचित् 'यातु' (अर्थात् चली जाय१६) जैसा कुछ उच्चारण करता है तथा इस प्रकार उसे अपने लक्ष्य तक सीधे भेज देने का उपक्रम तक भी कर बैठता है। फलत 'अथर्ववेद' के वैसे मंत्रों में, साधारणत कोई ऐसी शक्ति भी आ गई जान पड़ती है जिसका स्पष्ट प्रभाव, किसी अन्य के लिए अनिष्टकारक हो जा सकता है तथा ऐसी दशा में, स्वभावत इनमें उन सभी प्रमुख विशेषताओं तक के आ जाने का अनुमान किया जा सकता है जिनके जादूगरी वाले विशिष्ट मन्त्रों में पाये जाने की चर्चा, हमने प्रसगवश इसके पहले ही कर दी है। कहा तो यहां तक जाता है कि इसी कारण अथर्ववेद वैसे मन्त्रों को हम 'आथर्वण' एव 'आंगिरस' जैसे दो भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया गया पाते हैं जिसके आधार पर इनमें से द्वितीय अर्थात् 'आंगिरस' के लिए कहा जा सकता है कि ये वस्तुत 'कालाजादू' के परिचायक होंगे, कुछ विद्वानों के अनुसार वैसे मंत्रों के अर्थ, अन्य प्रकार से भी, लगाये जा सकते हैं, किंतु उस दशामें खींचातानी की भी संभावना हो सकती है। 'अथर्ववेद' में जादू-टोने आदि के पाये जाने की बात का समर्थन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उसके अनतर आनेवाले ब्राह्मण ग्रंथों एवं गृह्य सूत्र आदि के अंतर्गत, ऐसी बातें क्रमश कुछ और भी स्पष्टतर होती गई समझ पड़ती हैं।

---

१६. 'यातु' शब्द के इस अर्थ की सगति यातुधान (=परपीड़क राक्षसादि) में भी बैठ जाती जान पड़ती है। इसके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि सभवत 'यातु' का ही कोई फारसी पर्याय कभी प्रसिद्ध जादू शब्द भी रहा होगा।—लेखक।

आधुनिक विद्वानों में से कई का अनुमान है कि जादू, विज्ञान एवं धर्म ये तीनों आरंभ से ही, एक साथ चले होंगे। उन दिनों इन्हें पृथक-पृथक् करके कभी नहीं देखा जाता रहा होगा तथा इन तीनों के बीच का अंतर कभी पीछे आकर स्पष्ट हुआ होगा। इस संबंध में उन्होंने बहुत कुछ अनुसंधान किया है तथा इसे नृतत्व विद्या, समाज शास्त्र आदि वाले अनेक प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में लाकर, उन्होंने अपनी-अपनी धारणाओं की परीक्षा एवं पुष्टि तक भी की है। तदनुसार 'जादूविद्या का इतिहास' ग्रंथ के रचयिता प्रसिद्ध एलिफास लेवी नामक लेखक ने 'जादूविद्या' को स्पष्ट शब्दों में, 'जादू विज्ञान' जैसी संज्ञा प्रदान की है तथा इसके लिए यहां तक भी बतलाया है कि इसे 'विशुद्ध विज्ञान' तक भी कहा जा सकता है। इनकी दृष्टि में यह तत्वत' एक ऐसा धर्म भी समझा जा सकता है जिसने प्राचीन जगत् वाले मनुष्यों के द्वारा धार्मिक विधानों का निर्माण किये जाते समय, प्रमुख निर्देशक का काम किया होगा जिस विचार से इसे सारी सभ्यताओं की धात्री होने का गौरव तक भी दिया जा सकता है।१७ इन्होंने अपने उक्त ग्रंथ की रचना का उद्देश्य भी, अंत में केवल इतना सिद्ध कर देना मात्र ही बतलाया है कि 'धर्म' एवं विज्ञान इन दोनों के ही प्रतीक मूलत. एक समान थे तथा किस प्रकार इनमें से द्वितीय उनके बल पर केवल प्रच्छन्न रूप में काम करता चला जा रहा है।१८

इसी प्रकार 'जादू विद्या' और 'धर्म' नामक एक अन्य पुस्तक के लेखक जार्ज वी० वेटर के अनुसार प्राचीन मानव समाज के यहां किन्हीं ऐसे शब्दों अथवा वैसी धारणाओं तक का भी नितांत अभाव रहा जिनके द्वारा जादू धर्म वा विज्ञान जैसे शब्दों को वर्तमान प्रचलित आशय, कम से कम अपने से किसी दूर तक मिलते-जुलते रूपों में भी प्रकट किया जा सके। परंतु फिर भी, उन दिनों क लोगों ने, अपने लिए अनेक ऐसे आचरण के ढंग निश्चित कर लिये थे जो उनके अनुकूल पड़ते थे तथा जिन्हें वे सर्वथा उचित भी समझा करते थे। तदनुसार जब कभी वे किसी अन्य वर्ग की ऐसी प्रथाओं अथवा परंपराओं को, अपनी दृष्टि में, भिन्न और विलक्षण मान लेते थे वे उन्हें अपरिचित वा प्रतिकूल तक भी ठहराकर उन्हें 'जादू जनित' कह डालते थे।१९ इसी प्रकार, हम देखते हैं कि आज कल भी, हम लोगों ने अपने लिए कुछ ऐसी विज्ञान-पद्धति एवं चिन्तन-प्रणाली स्वीकार करली है जो जादू एवं धर्म इन दोनों द्वारा अपनायी जानेवाली कई प्रक्रियाओं से विरुद्ध जाती जान पड़ती है। इस कारण जहां कहीं भी वे हमारे विज्ञान के प्रतिकूल समझ पड़ती हैं इन्हें ही जादू कह देते हैं तथा जहां किसी ऐसी प्रतिकूलता के

---

१७. एलिफासलेवी—दि हिस्ट्री आफ मैजिक (लंदन १९१३ ई०) पृ० ३६१।

१८. वही पृ० ३५४।

१९. जाज वी० वेटर : मंजिक एंड रेलिजन (न्यूयार्क, १९५८ ई०) पृ० १५४।

न दीख पड़ने पर ये हमें कुछ न कुछ अज्ञेय सी प्रतीत होती हैं, हम इनका समावेश 'धर्म के भीतर कर देते हैं।

अतएव, यदि उपर्युक्त सारी बातों की ओर ध्यान दिया जाय तथा उनमें पायी जानेवाली संभावनाओं पर विचार किया जाय तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जादू विद्या के क्षेत्र को धार्मिक क्षेत्र से पृथक ठहराया जा सकता है। इसके सिवाय, इस प्रसंग में, ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है कि जिन आश्चर्यजनक वा रहस्यमयी घटनाओं के उल्लेख हमें अपने धार्मिक ग्रंथों के अंतर्गत बहुत कुछ जादू जनित कृत्यों के जैसे रूपों में किये गये मिलते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन वा प्रसिद्ध तक भी हो सकते हैं। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि, विश्व में प्रचलित सभी प्रमुख धर्मों के अपने अपने साहित्यों में, ऐसे अनेक चामत्कारिक प्रसंगों की चर्चा की गई पाई जाती है जिनका संबंध उनके अपने महापुरुषों वा धर्माचार्यों के साथ जुड़ा रहा करता है। किन्तु उनमें से किसी को भी हम कभी, जादू विद्या के कारण घटी हुई किसी घटना के रूप में स्वीकार नहीं किया करते। इनके विषय में अधिक से अधिक इतना ही कहा जाता है कि ये किन्हीं ऐसे विशिष्ट व्यक्ति से सबद्ध हैं जिन्हें सर्वसाधारण से सर्वथा भिन्न अथवा विलक्षण समझा जाता है तथा इसी कारण, जिनकी दैवी शक्ति एव महत्ता की प्रत्यक्षत कोई सीमा नहीं निर्धारित हो पाती। जहाँ तक पता चलता है इन महात्माओं द्वारा, स्वयं अपने मुखसे कही गई, किसी ऐसी प्रामाणिक वाणी का कोई अवशिष्ट अंश कभी कदाचित ही मिल पाता है जिसमें उन्होंने वैसी बातों का वर्णन अपने निजी शब्दों में किया हो। अतएव हमें स्वभावत केवल उन कतिपय दसरे लोगों के वचनों द्वारा ही इनकी जानकारी हो पाती है और इनमें बहुत कुछ घटाया-बढ़ाया अथवा काल्पनिक भी हो सकता है। तदनुसार हम यहां पर उदाहरण स्वरूप, कुछ ऐसे चामत्कारिक प्रसंगों की ओर संकेत कर देना चाहते हैं जो प्रसिद्ध धार्मिक वर्गों वाले साहित्यों में उल्लिखित पाये जाते हैं तथा जिनका हमें, प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करते समय, सहसा स्मरण भी हो जा सकता है।

इन्द्रदेव की सहायता से, वशिष्ठ ऋषि के राजा सुदास के अपने लोगों के साथ, बाढ़ में आयी हुई नदी को छिछली बनाकर उसके पार पहुँचा देनेवाली ऋग्वेदीय कथा की चर्चा इसके पहले ही कर आये हैं। उस वेद के तृतीय 'अमृक' वाले ३३वें 'सूक्त' में इस प्रकार भी कहा गया मिलता है कि जिस समय भरत लोग अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर तथा उनके सामान लूटकर वापस आ रहे थे तो विपाशा एवं शुतुद्री नदियों में बहुत बाढ़ आ गई। जिस कारण उनके संगम पर पार कर पाना असंभव हो गया। परंतु विश्वामित्र ऋषि ने ऐसे अवसर पर उनकी बड़ी सहायता की तथा उन्होंने संभवत गायत्री मंत्र के बल पर उनका

नेतृत्व करके, उन्हें दूसरे पार कर दिया।[२०] इसी प्रकार बौद्ध साहित्य की एक प्रसिद्ध पुस्तक 'थेरीगाथा' में कहा गया है कि भिक्षुणी शुभा जो परम सुन्दरी थी उसे, किसी दिन ध्यानाभ्यास के उद्देश्य से आम्रवन की ओर जाते समय एकान्त में पाकर, किसी चरित्रभ्रष्ट युवक की उस पर आसक्ति हो गई। जब इसने उसके साथ छेड़ छाड़ करनी चाही तथा उसके सुन्दर नेत्रों की प्रशंसा करने लगा तो, इसे मना पाने में असफल होकर शुभा ने अपनी आंखें स्वयं निकाल कर उसे अर्पित कर दीं जिससे प्रभावित हो इसने उसे छोड़ दिया। किंतु जब वह भगवान् बुद्ध के यहां लौटी तो उन्होंने उसकी आंखों में एक बार फिर ज्योति ला दी जो बात साधारणत: कुछ असंभव भी समझी जा सकती थी।[२१] भगवान बुद्ध के विषय में यह भी कहा जाता है कि जब वे अपने अंतिम दिनों में कुशीनारा की ओर जा रहे थे उन्हें बड़ी प्यास लगी, इस कारण उन्होंने अपने शिष्य आनन्द से कहा कि अमुक सरिता से पानी ला दो जिसके केवल पंकिल मात्र शेष रह जाने के कारण आनन्द ने ऐसा कर पाना अत्यंत कठिन बतलाया। किंतु उनसे तीन बार आदेश पाकर जब ये अंत में गये तो इन्हें वहां पर पूरे पात्र भर स्वच्छ जल मिल गया। महात्मा ईशु खीष्ट के लिए भी कहा जाता है कि उन्होंने इस प्रकार के अनेक विलक्षण कार्य किये थे। किसी समय जब वे 'काना' नामक नगर में थे तो उससे लगभग १६ वा १८ मील पर वर्तमान 'केपरनाम' नामक नगर के किसी सेठ का लड़का मृत्युशय्या पर पड़ा था। इन्होंने उसे इतनी दूरी पर होते हुए भी, अपनी दैवीशक्ति के बल पर नीरोग कर दिया।[२२] इनके द्वारा किसी कोढ़ी व्यक्ति का अच्छा हो जाना,[२३] लंगड़ी स्त्री का चलने योग्य बन जाना[२४] और 'कम्वा' में रहते समय ही पानी का मदिरा में परिणत कर दिया जाना भी विशेष प्रसिद्ध है।[२५] इसके सिवाय हमें अनेक ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें योगियों, सिद्धों अथवा नाथों द्वारा अपनी सिद्धि के आधार पर अत्यंत दुस्तर से दुस्तर कार्यों का सम्पन्न कर दिया जाना बतलाया गया है तथा जिनमें से कई के उल्लेख योगसूत्रों में भी किये गये हैं।[२६]

---

२०. ऋग्वेद (अष्टक ३, सूक्त ३३)।
२१. दे० थेरीगाथा पृ० ३६६-९।
२२. जान (४।४३-५४)।
२३. मैथ्यू (८।२-४)।
२४. ल्यूक (१३।११-७)।
२५. जान (२।१-११)।
२६. दे० पातंजल योगसूत्र (तृतीयपाद, सूत्र १६-४५)।

कामायनी में आनंदवाद

राममूर्ति त्रिपाठी

[पूर्वार्द्ध—सैद्धांतिक पक्ष]

भारतीय दार्शनिकों की चिन्ताधारा में दो प्रवाह बहुत ही स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—एक धारा का उद्‌घोष है—'आनंदाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देनाभिजीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'—अर्थात् आनंद से ही इन समस्त भूतों की उत्पत्ति है, आनंद से ही इनकी संस्थिति है और अंतत आनंद में ही विलीन होते हैं। अभिप्राय यह कि आदि, मध्य एवं अंत सब कुछ आनन्दमय ही है। अथवा आगमों की 'आनन्दोच्छलिनाशक्ति: सृजत्यात्मानमात्मना' है—जहां कहा गया है कि आनद से छलछलानी हुई शक्ति स्वय को स्वय ही सृष्ट करती है। दूसरी धारा वह है जो 'सव दु खम्' और 'सर्वमनात्म' का 'निशान' लिये हुए है। इस प्रकार जहां एक धारा आत्मवादी और आनदवादी है वहां दूसरी अनात्मवादी और दु:खवादी है। यद्यपि व्यावहारिक जगत् में ससार की दु खरूपता सबको प्रतीत होती है—पर जहां पहला दल इसका कारण दृष्टिगत दोष को मानेगा, वहां दूसरा दल वस्तु की प्रकृति को ही मानेगा—फलत पहला जहां दृष्टि दोप को हटाकर वस्तु की आनदमयी प्रकृति में स्वत एक रस हो जाता है—वहां दूसरा अनात्म चित्त सतति की क्लेशकर परिणति के निदानों को समीक्षा कर स्वत दीपशिखा को भांति निवृत्ति पा लेने में ही दु ख से छुटकारा पाने की राह बताता है। 'प्रसाद' जी की धारणा है कि उपनिषदों की इसी आत्मवादी और आनंदवादी धारा का सक्रिय रूप शैवागमों में उपलब्ध होता है—वहां इसके प्रायोगिक और वैचारिक पक्षों का भी पर्याप्त उपबृंहण है। 'कामायनी' में 'प्रसाद जी ने इसी दृष्टि का अवतरण किया है।

उपनिषदों की आत्मवादी और आनदवादी धारा की जितनी चतुष्पाद प्रतिष्ठा शैवागमों में हुई है, उतनी नैगमिक दर्शनों में उपलब्ध नहीं होती। न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों में 'सुख' आत्मा का अदृष्टजन्य एक विशेष गुण है—जो मुक्ति की दशा में अदृष्ट के शांत हो जाने से स्वय भी शांत हो जाता है। फलत यहां की आध्यात्मिक ऊंचाई पर आनद या सुख जैसी किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। सांख्य एवं पातजल दर्शनों में सत्वगुण के कार्य रूप में ही सुख की कल्पना है, पुरुष तो केवल चिन्मय माना गया है—अत 'प्रकृति पुरुषान्यताख्याति'—अथवा समस्तचित्तवृत्ति का निरोध और 'स्वरूपावस्थिति'—जैसी चरम आध्यात्मिक दशाओं में प्राकृत सुख से ऊपर किसी चिदाह्लाद की कल्पना नहीं की जा सकती। पूर्व मीमांसा

का स्वर्ग सुख सातिशय सुख है—जो दुःख से सर्वथा संमिश्र रहा करता है—निरतिशय सुख की संभावना इनके यहां आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्ति की दशा में भी संभव नहीं है। उत्तर मीमांसक या अद्वैतवेदांती यद्यपि चिदानन्दमय निजस्वरूप की स्थिति आध्यात्मिक उत्कर्ष में मानते हैं—पर इनमें भी एक तो परब्रह्म स्वरूप आत्मतत्व को निर्विशेष माना जाता है—फलत ज्ञानशक्ति के बावजूद क्रियाशक्ति की समरस स्थिति नहीं है—दूसरे मुक्त पुरुष भी संसार की अनुभूति उसी प्रकार करता है जैसे एक आंख को विशेष ढंग से दबा लेने पर दो चांद दिखाई पड़ते हैं—अर्थात् व्यावहारिक माया-प्रसूत संसार का—भेद राशि का—तत्व ज्ञान से बाध हो जाने पर भी मिथ्या वस्तु की प्रतीति ज्यों की त्यों रहती है। इसी को ये लोग 'बाधितानुवृत्ति' शब्द से कहा करते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि मुक्ति वेला में भी तत्वबोध के बाद भी—संसार की सदानंदमय अनुभूति नहीं होती - संसार की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता। इतना अंतर अवश्य हो जाता है कि जहां बद्धपुरुष उसे अज्ञान पूर्वक देखता है वहां मुक्त पुरुष उसे ज्ञान पूर्वक देखता है और उसकी अलीकरूपता भी समझ लेता है -इसलिये यह उद्वेजक नहीं होता। यों समस्त सृष्टि माया की परिणति होने से सुख, दुःख एवं मोहमयी अपनी प्रकृति में ही होती है।

अद्वयवादी शैव इन सबसे आगे बढ़कर यह स्वीकार करते हैं कि मूलतत्व का स्वरूप द्वयात्मक अद्वय का है—इसीलिये उसे समरस माना जाता है। जिन दो पक्षों का समरस रूप वह मूलतत्व है—उनमें से एक पक्ष शिव और दूसरा पक्ष शक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। शिव यदि निस्पंद है तो शक्ति स्पदात्मा, पहला निष्क्रिय है तो दूसरा सक्रिय, पहला पुरूप से रूपित किया जा सकता है तो दूसरा स्त्रीरूप से। दोनों ही पक्ष चिन्मय माने गये हैं—सांख्य और वेदांतियों की प्रकृति और माया की भांति इनकी शक्ति न तो जड़ात्मक है और न तो मिथ्या। इनकी शक्ति चिन्मयी होने के कारण जहां सांख्य और वेदांत की प्रकृति और वेदांत की प्रकृति और माया से भिन्न हैं— वहीं सकोचप्रसारात्मिका होने के कारण शिवपक्ष से भी पृथक है। यद्यपि सांख्य और पातंजल दर्शन में 'चिच्छिक्ति परिणामिनी' और 'प्रतिक्षण परिणामिनी हि भावा· ऋते चितिशक्तेः·" द्वारा चितिशक्ति की बात आती है, तथापि वह चितिशक्ति 'पुरुष' के लिये पर्याय के रूप में प्रयुक्त शब्द है—वह पुरुष का अपना कोई अतिरिक्त पक्ष नहीं। इसी प्रकार अद्वैत वेदांतानुयायी सर्वज्ञात्ममुनि ने भी संक्षेपशारीरक में 'अमला चितिशक्ति' की बात कही है—पर वह भी ब्रह्म के पर्याय रूप में प्रयुक्त है, शैवों की शिव की शक्ति रूप में नहीं। निष्कर्ष यह कि शैवागमों में जिस 'शक्ति' की चर्चा है—वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती—विशेषकर साधकों की अनागमिक धारा में।

जिन साधकों ने आगमिक या तांत्रिक प्रभाव ग्रहण किया—वे चाहे शैव हों, शाक्त हों, वैष्णव या बौद्ध हों—सबने संकोचप्रसारात्मिका शक्ति की संस्थिति मान ही ली है और यह भी मान लिया है कि उसी चिन्मयी शक्ति का 'प्रसार' विश्व का बहिः निर्गमन है और 'सकोच' अन्त-निलयन। अभिनवगुप्त ने शक्ति की इस संकोचप्रसारात्मिका प्रकृत्ति को आनंद की दशा बताया है। इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने यह बताया है कि जिस प्रकार रासभी या बड़वा मूत्रत्याग के बाद गुह्यांग का सकोच प्रसार देर तक करती रहती है—और उसमें एक विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव करती रहती है उसी प्रकार शिव की अपनी शक्ति को यह संकोच-प्रसारात्मिका प्रकृति आनदमय स्थिति ही है। अभिप्राय यह कि प्रसारवश उद्‌भूत विश्व और सकोचवश तिरोहित विश्व— को गतिशील यह सारी प्रक्रिया अपनी प्रकृति में आनदमय है—वह कहीं भी दुःख संश्लिष्ट नहीं है। यह सारा विश्व शक्ति से उसी प्रकार एकरस रह कर उसमें सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है—जैसे मयूर के अडे में स्थित श्वेत द्रव पदार्थ में भावी रग वैचित्र्य। इसी को उन लोगों ने 'मायूराण्डरस न्याय' नाम से कहना चाहा है। इस समस्त निरूपण से एक तथ्य बहुत स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इन आगमिकों की दृष्टि में 'विश्व' की प्रकृति आह्लादमयी है और वहसत् भी है—जो अन्य दर्शनों या अनागमिक धारा में नहीं है। इसीलिये 'प्रसाद' जी मानते हैं—

"कौन कहता है जगत् है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

सभी आगमिक एक मत से यह मानते हैं कि वह परतत्व अपनी दर्पण–स्थानीया 'शक्ति में जब अपना प्रतिबिंब देखता है—तभी उसे 'मैं हूँ या मैं पूर्ण हूँ'—यह आत्मबोध हो पाता है। इस 'शक्ति' की सहायता के बिना उसे अपना बोध नहीं हो पाता और तब वह सब कुछ होकर भी नहीं होने की भांति रहता है। इसी को शंकराचार्य ने कहा है—

"शिवः शक्त्या युक्तो भवति यदि शक्तः प्रभवितुम्—"

शक्ति ही शिव का वैभव है–उसी से वह महिमावान् है 'एतावानस्यमहिमा' वही वह माध्यम है जिससे वह अनेक होता है—'इन्द्रो मायाभि पुरुरूपईयते'। वह शक्तिशाली अपनी शक्तियों से ही बहुत्व को प्राप्त करता है। अस्तु, अपनी ही दर्पणस्थानीया शक्ति में अपने को प्रतिबिंबित देखकर 'मैं पूर्ण हूँ'—इस प्रकार का जो स्वरूप बोध होता है वही पूर्णाहंता है। परम सुंदर वह तत्व अपने रूप का बोधकर स्वतः विमुग्ध हो उठता है और इतना विमुग्ध तथा चमत्कृत हो जाता है कि अपने को ही आलिंगीत करने की इच्छा होने लगती है। "चैतन्यचरितामृत" में ठीक ही कहा है—

"रूप हेरि आपनार कृष्णेर लगि चमत्कार
आलिंगिते मने उठे काम"

यह चमत्कार पूर्णाहंता का चमत्कार है—काम या प्रेम इसी का प्रकाश है यही आगमिकों की शब्दावली में शिव एवं शक्ति के सम्मिलन का प्रयोजक आदिरस अथवा शृंगाररस है। विश्व सृष्टि के मूल में यही रसतत्व प्रतिष्ठित है—इसी का उच्छलन विश्व है। इस प्रकार भी विश्व की प्रवृत्ति रसात्मक या आह्लादमयी सिद्ध होती है। इसके साथ यह भी जान लेना चाहिए कि यह परतत्व की स्वातंत्र्यात्मा शक्ति ही है जो सृष्टि रूप में प्रसरित होती है और इस प्रसरण के मूल में उसकी 'लीला' ही निमित्त है और लीला का कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन से कोई वह व्यक्ति कार्य करता है जिसे क्लेशकर अभाव का बोध होता है—मूल तत्त्व पूर्ण है, अत वहां क्लेशकर अभावबोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस आगमिक विवेचन से यह नितांत सुस्पष्ट है कि मेरा अपना स्वरूपबोध तो आह्लादमय है ही—विश्वात्मक प्रसार और सकोच भी आह्लादात्मक प्रक्रिया ही है—स्वत विश्व भी आह्लादमयी प्रकृति वाली शक्ति का उच्छलन होने से आनदमय है। संक्षेप में आनंदवाद की आगमिक धारणा यही है—जिसे 'प्रसाद' जी ने कामायनी में निरूपित किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कामायनी की समीक्षा में कहा है—"किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अत में 'प्रसाद' जी ने ध्यान दिया—जिसका परिणाम है 'कामायनी'। इसमें उन्होंने अपने प्रिय आनदवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनदवाद वल्लभाचार्य के 'काया' या 'आनंद' के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अंतर्भूमि पद्धति पर है।" यद्यपि वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद में भी ब्रह्म की निजी अचिन्त्य शक्ति है—माया, जो अद्वैत वेदांतियों की माया से भिन्न है। समस्त प्रपंच का आकार शुद्ध ब्रह्म इसी माया के द्वारा ग्रहण करता है। यह 'प्रपच' आनंदमय ब्रह्म का अपना ही स्वरूप है। इनके यहां 'प्रपच' और 'संसार' में अंतर है। 'मैं' और 'मेरा' रूप ससार का उदय आविधिक भ्रान्तिवश है जिसकी निवृत्ति भक्ति से हो जाती है, पर ब्रह्मात्मक 'प्रपच' की निवृत्ति नहीं होती। भगवान् रमण के लिये ही अपनी मायाशक्ति के सहारे प्रपचात्मक रूप में परिणत होते हैं—अत. वह 'प्रपंच' चिदानन्दमय माना जाता है—वह असत्य और भ्रान्त नहीं है। यह बात दूसरी है कि इस प्रपंच का भी आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। जीवों में ब्रह्म का आनन्दांश तिरोहित रहता है, पर एक समय साधना से ऐसा भी आता है—जब

तिरोहित आनन्दांश प्रकट हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि यहां भी 'प्रपंच' अपनी प्रकृति में आनंदमय है और वधवश अविद्या विजृम्भित ससार दुःखद प्रतीत होता है—तथापि इस आनन्दवाद की अपेक्षा और व्यापक 'प्रसाद' जी का आनंदवाद तान्त्रिकों का ही है—जिसका ऊपर संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

शुक्लजी 'प्रसाद' जी के इस आनंदवाद को दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ प्रतिष्ठित मानते हैं और बताते हैं कि रहस्यवादिता के मोहवश 'प्रसाद' जी का अभिमत 'सामंजस्य' भी ठीक अर्थात् तर्कसंगत ढंग से उतर नहीं सका। उनका कहना है कि 'रहस्य सर्ग में कर्म, इच्छा एवं ज्ञान से पृथक श्रद्धा का दिखाना, पुनः उसकी स्मिति से तीनों को समन्वित करना, बुद्धि को श्रद्धाहीन मानना पर श्रद्धा को बुद्धिहीन न मानना, कर्म को ज्ञान प्रसूत मानकर भी उन्हें पृथक् दिखाना, श्रद्धा की ही प्रवृत्ति विशेष के रूप में राग या इच्छा को मानकर भी उसी से नहीं, वरन् तीनों से पृथक् श्रद्धा को दिखाना—बौद्धिक असंगतियां हैं—इसीलिये इस रहस्य-दर्शन के बाद उन्मीलित होने वाला आनंदवाद दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ ही प्रतिष्ठित कहा जा सकता है।

शुक्ल जी का यह आरोप बहुत कुछ ठीक है, लेकिन उसके साथ यह भी ठीक है कि 'प्रसाद' जी का आनंदवादी दर्शन किसी शिथिल भूमि पर नहीं टिका है। दोनों ही बातें इस प्रकार ठीक हैं—परम्परा से ऐसा देखा जा रहा है जहां कहीं एक दीर्घकथा में प्रस्तुत या अप्रस्तुत अन्य अर्थ को भी संकेतित करने का लक्ष्य कवि का रहा है—वहां सर्वत्र ऐसी ही असमन्विति दिखाई पड़ती है। इसलिये सहृदय समीक्षक कवि को बेमुरौव्वत चीरफाड़ न कर जहां तक अभीप्सित संकेत ले पाता है—वहीं तक लेना है। किसी ने बहुत ठीक कहा है—

वाचं कनीनामुपलालयन् हि भुङ्क्ते रसज्ञो युवतीं युवेव।
तामेव भुङ्क्ते तर्ककोऽपि प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः।

अर्थात् युवती का आस्वाद रसज्ञ भी लेता है और भूत या प्रेत भी, पर पहला जहां अपनी रसज्ञ प्रकृति के अनुरूप लालित करता हुआ युवती का उपभोग करता है वहां भूत उसमें प्रविष्ट होकर उसका प्राण ही हर लेता है। ठीक इसी प्रकार कवि की वाणी का आस्वाद एक सहृदय भी लेता है और एक तार्किक भी—लेकिन जहां पहला मुरौव्वत के साथ रस ग्रहण करता है—वहां तार्किक बेमुरौव्वत होकर उसकी रीढ़ ही तोड़ डालता है। ऐसी बेमुरौव्वती किस काम की? जायसी के 'पद्मावत' को लें या 'प्रसाद' की 'कामायनी' को, दिनकर की 'उर्वशी' को लें या कुंवरनारायण के 'आत्मजयी'—को सबकी चीरफाड़ तार्किकों ने इसी बेमुरौव्वती के साथ की है। 'पद्मावत' में कोई झक्की यदि आद्योपांत एक तर्कसंगत ढंग

से प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत को जोड़ना चाहे—तो उसमें न जाने कितने 'आभास' मिलेंगे। यही बात दिनकर की 'उर्वशी' के साथ भी है—यहां भी पुरुरवा और उर्वशी के बाह्य आख्यान को जिस आध्यात्मिक संकेतों से युक्त करने का प्रयत्न किया गया है अंत के पुरुरवा और उर्वशी की विरह विह्वल दशा से क्या कोई संगति पाई जा सकती है? 'आत्मजयी' में भी यम और नचिकेता के औपनिषद आख्यान तथा नये अर्थ में अमरता प्राप्ति के संकेत का सर्वत्र समरस और तर्कसंगत निर्वाह हो सका है? कभी नहीं, हो भी नहीं सकता। अतः सहृदय समीक्षक के लिये उचित है कि जो बात जहां तक रस दे सके काव्य और शास्त्र का अंतर ध्यान में रखते हुए—वहीं तक उसकी चीरफाड़ करे। यह बहुत स्पष्ट है कि श्रद्धा एक नायिका की भूमिका में बाहर-बाहर से प्रतिष्ठित है—पर उसमें अनेक रूपों का संकेत—जहां जो संभव हो—कवि को अभीष्ट है। कवि ने उसे 'श्रद्धा' नायिका को रागात्मिका वृत्ति चिदाह्लादमयी पराशक्ति, करुणाकर गुरुशक्ति के रूप में भी प्रतीकित करना चाहा है—अतः राग को श्रद्धा को वृत्ति भी यथासंभव कहना सही है और यह भी सही है कि वह श्रद्धा इन तीनों बिंदुओं का मूल कारण होकर उनमें अनुस्यूत रहती हुई भी उनसे पृथक अवस्थित हो। इसी प्रकार जहां हम कर्म को बुद्धि की एक प्रवृत्ति के रूप में दिखाना चाहें—वहां वक्ता का क्या अभिप्राय है—यह देखना चाहिए और जहां तीनों बिन्दुओं को पृथक दिखाया जा रहा है—वहां वक्ता का क्या अभिप्राय है—यह भी देखना चाहिए। यही सहृदयता पूर्वक विरोधों को देखें, तो एक बुद्धिमान व्यक्ति के वक्तव्यों में ऐसी स्थितियों का कारण दृष्टिभेद या अभिप्राय भेद हुआ करता है—मूर्खता या बौद्धिक असंगति नहीं। अस्तु, मैं इस दिशा में समय और स्थान कम होने से ज्यादा बढ़ना नहीं चाहता। वस्तुतः "शुक्लजी और कामायनी"—एक स्वतंत्र निबंध का विषय है। यहां तो हमें दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित और 'कामायनी' में निरूपित आनंदवाद की चर्चा प्रमुखरूप से करनी है।

[उत्तरार्द्ध—प्रायोगिक पक्ष]

उपर्युक्त चर्चा से यह भली भांति स्पष्ट किया जा चुका है कि 'कामायनी' का 'आनंदवाद' वल्लभाचार्य के 'काया' या 'आनंद' सिद्धान्त पर नहीं, वरन् शैवागम-सम्मत-भूमिका पर आधारित है। कामायनी की पंक्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।

आरंभ में मनु उस दुःखवादी चिन्तनधारा के ही प्रतीक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं—जो "चेतनता का भौतिक विभाग कर, जग को बांट दिया विराग", अर्थात् यहां चिदंश से अचिदंश

को पृथक् कर दिया जाता है और अचिदंश या जगत् को त्याज्य अथवा विरक्तिजनक मान लिया जाता है और शुद्ध चिदंश में कैवल्य लाभ किया जाता है। इस 'विवेक' मार्ग पर आरूढ़, नैराश्य और निवृत्ति के धरातल पर प्रतिष्ठित मनु को वह अखंड योगमार्ग की 'पूर्णता' या 'पूर्णाहंता' की उपलब्धि का पथ-निर्देश करती हुई कहती है—तुम्हारे हृदय की यह निवृत्ति-परक वृत्ति आयास रमणीय है केवल दुःख के भय से अज्ञात जटिलताओं का अनुमान कर 'काम' या 'प्रवृत्ति' से इतनी झिझक क्यों? चिदंश से अचिदंश को पृथक करने की जगह 'अचिदंश' के 'शव' पर आसीन होकर उसका भी चिन्मयीकरण करके अखंड आनंद की उपलब्धि करणीय है। वास्तव में समस्त विश्व का उन्मीलन महाचिति का लीलामय विलास है। इस तथ्य का विस्मृतिवश ही तुम इस विश्व का तिरस्कार कर रहे हो और काममंगल से मण्डित श्रेय संवलित सर्ग की असफलताओं का आगार बना रहे हो। जिस वैषम्य को तुमने अभिशाप और जगत् की ज्वालाओं का मूल समझा है—वह ईश का रहस्य वरदान है। वस्तुतः वैषम्य ही सृष्टि का मूल है। शिव और शक्ति की विषम स्थिति से ही विश्व का विकास हुआ है। यही वैषम्य हमें सामरस्य की ओर ले जाने का साधन है भूमा की उपलब्धि का साधन है। भूमा बहुत्व का बोधक है। इसी के लिये उपनिषदों में कहा गया है—यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमा वै सुखम्।" भूमा सीमित सुख का तिरस्कार करता है—क्योंकि इससे उसकी सीमा संकुचित हो जाती है। अतः संसार के मूल रहस्य को—सुख, दुःख को—समान अनुभव करके दोनों को एकरस आनन्दमय रूप में गृहीत करना 'भूमा' है। निष्कर्ष यह कि व्यक्तिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित करना ही वास्तविक आनंद लाभ है। 'प्रसाद' के उन्नयन या ऊर्ध्व संचरण का यही 'अल्प' से 'भूमा' व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रस्थान है। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार जो वैषम्य 'भूमा' का साधन या सोपान है—उसकी उपेक्षा कैसी? इस स्पंदशीला शक्ति की तरंगों की तह में निःस्पंद शिवतत्व शांत, अथाह और अनन्त नीरनिधि की भांति स्थिर पड़ा हुआ है। यदि उससे समरस होना है—तो उसकी नीलाभ शक्ति तरंगों से भीत क्यों? यदि 'अपूर्ण' को 'पूर्ण' होना है, अचिदंश का भी जब चिन्मयीकरण संभव है—तो उसके एकदेश अचिदंश से यह वितृष्णा? यहां तप नहीं, केवल जीवन सत्य है जहां तरल आकांक्षा से भरा आशा का आह्लाद सो रहा है। इसे सक्रिय करने से विधाता की यह कल्याणी सृष्टि इसी भूतल पर आनंदमय हो जायगी—उसकी सरस अनुभूति होने लगेगी। 'भूमा' या आनंद की ओर इसी प्रकार अग्रसर हुआ जा सकता है। इस प्रकार श्रद्धा ने विवेक मार्गी मनु को जिस 'योग' मार्ग का उपदेश दिया है वह तंत्र सम्मत आनंदवादी दृष्टिकोण है।

इस संदर्भ में विभिन्न प्रश्न खड़े होते हैं—पहला यह कि जब समस्त विश्व की प्रकृति आनंदमयी है और विश्व उसी आनंदमयी शक्ति का परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उसी का बहि प्रकाश है—तो जीवमात्र को वह अनुभव में क्यों क्लेशकर प्रतीत है ? इस क्लेशकर प्रतीति का कारण हमारी अपनी दृष्टि या जबान में है या आस्वाद्य अथवा भोग विश्व में ? दूसरा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि इस दुःखात्मक अनुभूति का—समस्त विषतुल्य विकल्पों का—अमृती करण किस प्रकार सम्भव है ?

'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में इन सभी प्रश्नों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्मवादी और आनन्दवादी सुरवर्ग का कहना है—

> मैं स्वय सतत् आराध्य आत्ममंगल उपासना में विभोर।
> उल्लासशील मैं शक्तिकेंद्र किसकी खोजूं फिर शरण और।
> आनंद उच्छलित शक्ति-स्रोत नित नव विकास वैचित्र्य भरा।
> अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा।"

अर्थात् यद्यपि प्रत्येक जीव मूलतः 'पूर्णकाम' 'पूर्णाहंतामयी शक्ति' से समरस है, उल्लासशील शक्तियों का केंद्र है, ऐसी शक्ति का आश्रय है जो आगमों में 'आनन्दोच्छलिता' कही गई है, किंतु अपनी स्वातंत्र्य रूपा उसी शक्ति वश लीला के लिये परमशिव जीवभाव स्वेच्छया परिगृहीत कर लेता है—आनद के लिये एक से अनेक हो जाता है। एक से अनेक होने की इच्छा करते ही प्रकाशमय उस मूलतत्व में एक महाशून्य छा जाता है—'पूर्णाहं' का संकोच होने लगता है—स्वातंत्र्य और बोध का परम्परानुस्यूत सामरस्यभंग हो जाता है—'स्वातन्त्र्य' और 'बोध' अलग-अलग हो जाते हैं। इसी 'स्वातन्त्र्य' में 'बोध' का और 'बोध'—प्रकाश में 'स्वातन्त्र्य' विमर्श का न रहना ही 'आणव मल' कहा जाता है—जिस के कारण 'संकुचित असीम अमोघ शक्ति' हो जाती है। जल की भांति इच्छा के अनुदय से पूर्व चने के शुष्क दाने की तरह जो 'स्वातन्त्र्य' और 'बोध' अद्वयात्मक स्थिति में रहते हैं वे ही उसके उदय के बाद जल में भींगे उच्छूनावस्था में आगत चने की भांति हो जाते हैं—जो ऊपर-ऊपर से एक रहता हुआ भी अपने भीतर दोनों दालों का भेद भी आभासित करा देता है—यही वह दशा है जहां से 'अहं' का सकोच और 'इदं' का अकुंरण आरंभ हो जाता है—शनैः शनैः 'इदं' बढ़ता हुआ अंश विश्वाकार परिणति ले लेता है और 'पूर्णाहं' सकुंचित हो जाता है। आणव मल के अनतर 'मायीय' मल से भेद-सर्ग और कर्म-मल से भोगानुरूप शरीर धारण भी करना पड़ता है। परमतत्व अपनी ही इच्छा से अपने विलास के लिये अपनी सभी असीमताओं को ससीम बना लेता है—सर्वज्ञता सर्व व्यापकता, सर्वकर्तृता, सार्व कालिकता और अखण्डता सभी ससीम हो जाते हैं—इसी अभिप्राय को इन पंक्तियों में देखिये—

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति।
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महाशक्ति।
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद।
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छंद।
कर्तृत्व सकल बन कर आवे नश्वर छाया सी ललित कला।
नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरंतर चले ढला।
तुम समझ न सको, बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति।
हो विफल तर्क से भरी युक्ति॥

इन पंक्तियों से उनकी आगम-सम्मत दृष्टि स्पष्ट है कि वही परतत्व लीला के लिये माया, राग, कला, विद्या, काल और नियति—के षड्विध कंचुकों से स्वयं को संकुचित कर लेता है। यही भेदमयी माया जीवन को बाधामय पथ पर ले जाती है। शांकर अद्वैत की माया की भांति ईश्वराद्वयवादी शैवागमिक प्रत्यभिज्ञा की 'माया' आकस्मिक नहीं है। यह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक और स्वेच्छा परिगृहीत रूप है। आत्मा अपने ढकने में और अपने प्रकाशित करने में भी स्वतंत्र और समर्थ है। ये कंचुक इसी सामर्थ्य का विलास है। इन कंचुकों में शिव की सर्वतोमुखी व्यापकता और असीमता खण्ड-खण्ड, संकुचित और ससीम हो जाती है। आत्मरूप के गोपन की इस भूमिका में खण्ड, भेद, अभाव और अपूर्णता का उज्जृम्भण होता है—फलतः नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव होता है। निष्कर्ष यह कि हमारी अपनी इच्छा से परिवर्तन हमारे स्वरूप और हमारी दृष्टि में होता है—विश्व और उसकी प्रकृति में नहीं। इसी स्थिति का संकेत करते हुए 'प्रसाद' जी ने कहा है—'सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि।

दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

अभिप्राय यह कि दोष—दृष्टि में—और वह भी लीलार्थ अपनी इच्छा वश है, वस्तु में नहीं—तभी तो वे कहते हैं—

"कौन कहता है जगत है दुखमय?" अथवा
"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्
वह रूप बदलता है शत-शत
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत्— —दर्शनसर्ग, पृ० २४२

प्रत्येक जीवात्मा का प्रतिनिधित्व करने वाला मनु इसी 'अपूर्ण काम' या 'अपूर्ण अहंता' वाला प्राणी है—जिसके 'पूर्णकाम' होने का मार्ग भी 'कामायनी' में निर्दिष्ट किया गया है। 'कामायनी' में श्रद्धा को अनेक भूमिकाएं निबाहनी पड़ी हैं—इसीलिये कहीं वह केवल नारी है, कहीं वह निर्देशिका या गुरु है, कहीं वह रागात्मिका वृत्ति है और कहीं साक्षात् आनंदोच्छलिता अमला मातृमयी शक्ति। निर्देशक की भूमिका में उसने मनु को 'विवेक' मार्ग से हटाकर 'अखडयोग' वाले मार्ग की ओर उन्मुख किया और बताया कि 'आत्मविस्तार' के लिये आयास साध्य विराग का नहीं, राग का मार्ग ग्रहण किया जाता है—

"तपस्वी आकर्षण से हीन,
कर सके नहीं आत्म विस्तार।"

तदर्थ वह अपने को समर्पित करती है—ताकि वे आत्मशक्ति की—जो सामने रहकर भी अप्रत्यभिज्ञात है—प्रत्यभिज्ञा कर लें। स्वय 'काम सर्ग' में 'प्रसाद' जी ने 'काम' द्वारा साधक मनु को यह बताया है कि यदि वह 'पूर्णकाम' होना चाहता है—तो उस आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा करें—उस अमला, को पहचाने। 'काम' का संदेश है 'उसको पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो'। मनु भी पूर्णकाम होना चाहते हैं—अत' विकल और व्यग्र भी हैं, वे कहते हैं—

'उस ज्योतिमयी को देव कहो कैसे कोई नर पाता है?' स्पष्ट है कि आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा के लिये करुणा, शक्ति एवं प्रेम जैसी मानवीय सद्वृत्तियों को लेकर निष्काम कर्म सम्पादन द्वारा अपने अतस को निर्मल बनाना पड़ता है। निष्काम कर्म से साधक कर्तृत्वाभिमान से शून्य हो जाता है—यही स्थिति 'मध्य' की स्थिति होती है—जहां शक्तियान और अनुग्रह होना है, फलत 'पूर्णता' लाभ होता है। कर्तृत्वाभिमान ही सब प्रकार की आसुर वृत्तियों को जन्म देता है। इसी कर्तृत्वाभिमान और तन्मूलक असहिष्णुता, असतोष, द्वेष, अहं, एकाधिकार एवं बौद्धिक व्यभिचार-आदि के कारण कर्तृत्वाभिमान से शून्यता नहीं हो पाती, फलत वह 'योग्य' नहीं बन पाता और न 'बल' लाभ ही प्राप्त कर पाता है। कर्तृत्वाभिमान से शून्य 'मध्य' में ही शक्तिपात होता है—जिसकी अभी संभावना ही नहीं है। फलत वह अनेक प्रकार का कष्ट भोगता है और चिन्ताओं से आक्रान्त रहता है। इस अवस्था के जीवों का प्रतिनिधित्व करने वाले 'मनु' को काम 'इड़ा' सग में फिर मिलता है और कहता है—

'मनु। तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल'

मनु विक्षिप्त हो जाते हैं और इस वाणी को सुनकर चौंक पड़ते हैं और उनका अंग तथा मन अभिशाप एवं ताप की ज्वाला से जलने लगता है। वे कहते हैं—

—क्या मैं भ्रांत साधना में ही अब तक लगा रहा ?
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नहीं सस्नेह कहा ?
पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत धाम
फिर क्यों न हुआ मैं 'पूर्णकाम' ? ॥

काम ने इस भ्रांति का निराकरण करते हुए बताया कि श्रद्धा ने तो निश्चय ही अपना वह हृदय उसे दान कर दिया था जो प्रणय से पूर्ण, सरल तथा जीवन मानों से भरा हुआ था— जहां शांत प्रभा से ज्योतिष्मती चेतनता ही केवल विराजमान रहती है, लेकिन उसने उसे ग्रहण कहां किया ? उसने तो केवल सुंदर जड़ देह मात्र को अपनाया, सौंदर्यजलधि से केवल अपना गरल पात्र ही भरा। वस्तुत मनु अबोध है और अपनी अपूर्णता को वह स्वयं समझ न सका, वह स्वय अपने आप उस पूर्ति से विरहित रह गया जिसे परिणय पूरा करता है। उसे नहीं मालूम कि 'कुछ मेरा तो' यह राग भाव सकुचित पूर्णता है जिसे मानस जलनिधि का क्षुद्रयान कहा जा सकता है। निष्कष यह कि श्रद्धा ने तो सब कुछ दे दिया था, पर मनु में वह शक्ति अभी तक कहां जग पाई थी—जिसके बल से वह आत्मशक्ति को पहचाने— श्रद्धा की प्रत्यभिज्ञा करे और पूर्णकाम हो ?

एक समय ऐसा आता है जब मनु का मल पाक हो जाता है, समस्त मौलिक शक्तियों और क्षुद्र अहता की दुष्परिणति से उत्पन्न पश्चात्ताप की आग में जब उनका सारा कर्तृत्वाभिमान जल कर राख हो जाता है—फलत जब उसमें योग्यता उत्पन्न हो जाती है—तब पारमेश्वर शक्तिपात हो जाता है—उनको अनुग्रह शक्ति सक्रिय हो जाती है और वह मातृमयी निर्विकार आत्मशक्तिस्वरूपा महाकरुणा का प्रतीक श्रद्धा भी सामने आ उपस्थित होती है—और—

मनु ने देखा कितना विचित्र
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र

'देखा' तो मनु ने पहले भी था, परंतु अब देखकर 'प्रत्यभिज्ञा' करने की योग्यता प्राप्त हो चुकी थी। फल यह हुआ कि देखने के बाद तुरत ही उन्हें आत्मशक्ति की 'प्रत्यभिज्ञा' भी हो जाती है और आश्चयपूर्ण ढंग से कह पड़ते हैं —

'तुम देवि आह ! कितनी उदार
वह मातृ मूर्ति है निर्विकार

हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमानिलय में रहती,
मैं भूला हूं तुमको निहार,
नारी-सा ही लघु विचार।

देखना और 'प्रत्यभिज्ञा' करना में अंतर है। 'प्रत्यभिज्ञा' एक ऐसा नृसिंहाकार ज्ञान है—जिसमें प्रत्यक्ष और स्मृति—दोनों का योग होता है। प्रत्यक्ष दृष्ट चिह्नों से स्वरूप की स्मृति हो उठती है। अभिनवगुप्त ने पुन पुनः अनुसंधान को प्रत्यभिज्ञा कहा है—इस परिभाषा में भी प्रत्यक्ष के अनंतर वस्तु के स्वरूप की पुन· पुन· स्मरण करके वास्तवरूपबोध तक पहुंचने का ही प्रयत्न है। अभिनवगुप्त के गुरु उत्पलपाद ने प्रत्यभिज्ञा को निम्नलिखित श्लोक में सदृष्टान्त समझाया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितो प्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष त थानवेक्षितगुणो स्वात्मा पि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाप तदलं तत्प्रत्याभिज्ञोदिता॥

जिस प्रकार किसी तन्वी के समक्ष अकथनीय उपयाचनाओं द्वारा उसका पति लाकर खड़ा कर दिया जाय—और बिलकुल पास में खड़ा कर दिया जाय—पर वह नायिका उसको देखती हुई भी न पहचान सकने के कारण ससार के और लोगों की ही भांति समझती है—फल यह होता है कि वह उसके साथ रमण नहीं कर पाती—ठीक इसी प्रकार अप्रत्यभिज्ञात स्वात्मभूत विश्वेश्वर भी सदा सन्निहित रहता हुआ भी अपना वैभव प्रदर्शित नहीं कर पाता। पर जब आत्म प्रत्यभिज्ञा कर लेता है तब उसे 'मैं पूर्ण हूं'—यह स्वरूप बोध हो जाता है और समस्त चिन्ताजाल अथवा दुःखजाल का मूल स्रोत 'अपूर्णता बोध' 'अभावबोध' समाप्त हो जाता है—और जीवात्मा आह्लाद समुद्र में मग्न हो जाता है। अभिप्राय यह कि बिना 'प्रत्यभिज्ञा' के स्वेच्छा विस्मृत आत्मशक्ति का—जिसे विमर्श, पूर्णता, आनंद, पूर्णहंता आदि नामों से पुकारा गया है—विस्फार नहीं होता, अभाव और अपूर्णता दूर नहीं होती।

प्रत्यभिज्ञा होते ही निर्निमेष लोचनों से मनु देखते हैं कि आवरण पटल की ग्रंथियां चटक—चटक कर टूट रही हैं और सत्ता का स्पंदन डोल चला है, तब जलनिधि का मधुमथन बन, ज्योत्स्नासरिता का आलिंगन कर रजत-गौर उज्ज्वलजीवन मंगल जीवन आलोकमय पुरुष स्वरूप

में स्थित है--यहां केवल प्रकाश का कलोल था और मधुमयी किरणों की लोल लहरें खेल रही थीं—चिदाह्लादमय अनुभूति हो रही थी। उन्हें उस आत्म रूप का अनुभव हुआ जिसके संहार और सृजन दो पाद हैं और जहां से अनाहतनाद निरंतर होता रहता है। वास्तव में 'कामकलाविलास' में मूल समरस विंदु को 'काम' या 'रवि' कहा गया है—जिसकी दो कलाएं हैं— अग्नि और सोम—एक शोणविंदु है और दूसरा श्वेत विंदु। परस्परानुस्यूत दोनों विंदुओं के घर्षण से सृष्टि काल में सोमविंदु का प्राधान्य रहता है जो अग्निविंदु के सम्पर्क से अधःक्षरित होने लगता है। संहारकाल में अग्निविंदु का प्राधान्य रहता है और सोमविंदु का पान होने लगता है—यही अग्नि विंदु उस मूल तत्व का संहारपाद है और सोमविंदु सर्जकपाद है। नाद प्रत्येक शक्ति की अभिव्यक्ति के साथ लगा देता है। शक्ति की घर्षण प्रयुक्त प्राधान्यवश अनाहतनाद की भी अभिव्यक्ति होने लगती है। निष्कर्ष यह कि इस प्रक्रिया से—

'मिटते असत्य से ज्ञान लेश
समरस अखण्ड आनंद वेश' - 'दर्शन'

पुनः आह्लादमय निजस्वरूप में संस्थिति हो जाती है।

प्रसंगतः यहां एक प्रश्न खड़ा होता है कि 'कामायनी' में प्रत्यभिज्ञा का स्थल कौन सा है? 'क्या 'दर्शन' सर्ग—जहां मनु ने तुम आह देवी'— आदि उपर्युक्त पंक्तियां कहीं हैं अथवा 'रहस्यसर्ग'—जहां श्रद्धा उनके स्वरूप का बोध कराती है—'इस त्रिकोण के मध्य विंदु तुम'? अथवा प्रत्यभिज्ञा का स्थल पहला ही है, प्रस्तुत काव्य में केवल उसका विशदीकरण या स्पष्टीकरण-यहां तक किया गया है।

वस्तुतः इस प्रश्न का समाधान पाने के लिये 'प्रत्यभिज्ञा' का दार्शनिक क्रम ज्ञान आवश्यक है। जो लोग प्रथम स्तर पर ही प्रत्यभिज्ञा की स्थिति स्वीकार करते हैं वे कहते हैं कि श्रद्धा मनु-शिव की विमर्शरूपा आत्मशक्ति का प्रतीक भी है। आत्मशक्ति को पहचानना ही अपने को पहचानना है। इस प्रत्यभिज्ञा के फलस्वरूप आवरण पटल की ग्रंथियां खुल जाती हैं और 'प्रकाश का कलोल' न था 'मधुमयी किरणें तरंगायित होने लगती हैं। मधुमयी किरणें चिदानंदमयी स्वरूपस्थिति की ही बोधिका है। दूसरे लोगों का यह विचार है यह 'दर्शन' श्रद्धा ने अपनी सविनामी किरणों के प्रभाव से कुछ क्षणों के लिये मनु को करा दिया था, जो सद्यः अप्रत्याशित ढंग से विलुप्त भी हो जाता है। अतः वास्तव और स्थायी प्रत्यभिज्ञा वहां होती है जब श्रद्धा उन्हें बताती है कि इस त्रिकोण के मध्यविंदु तुम—अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रिया—जैसी शक्तियों या विंदुओं के मूल में अविभागपूर्वक अवस्थित 'विंदु' तुम्हीं हो। त्रिपुर के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले ये त्रैपुर-त्रिकोण सर्जकविंदु—जो विश्व के प्रतिनिधि हैं—तुम्हारा

ही मूल शक्ति के प्रसार हैं। गुरुरूपा श्रद्धा की इस 'कथमदीक्षा' के फलस्वरूप ही वस्तुतः मनु को स्थायी प्रत्यभिज्ञा होती है।

वस्तुतः परस्पर विरोधी इन स्थापनाओं में किसी एक पक्ष-विपक्ष में कहने का अभिप्राय कवि पर भी आक्षेप है। अत ऊपर जो तीसरा विकल्प प्रस्तुत किया गया है—वही युक्तिसगत जान पड़ता है। अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन सर्ग में ही है—जहां कर्तृत्वभिज्ञानशून्य 'मध्य' में पारमेश्वर शक्तिपात होता है और मनु चिदाह्लाद मग्न हो जाते हैं—पर उसी का विशदीकरण या स्पष्टीकरण 'रहस्य' सर्ग तक हुआ है। यह पक्ष इसलिये सगत जान पड़ता है कि एक तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जो 'पारमेश्वरशक्तिमान' 'गुरुदीक्षा' तथा साधक-साधन 'उपाय'—की सामग्री आवश्यक है—वह सबके सब 'दर्शन' सर्गस्थ मनु में विद्यमान हैं—यहां तक कि स्थिति में उसका मल-पाक भी हो चुका है—जो पारमेश्वर शक्तिपात की उपयुक्त घड़ी है। हां, एक बात अवश्य है और वह यह कि निर्देशक या गुरु का स्वयं आ पहुंचना तंत्रालोक के अनुसार 'मंद तीव्र' पारमेश्वर शाक्तिपात का सूचक है और शक्तिपातगतमंदता के कारण यहां 'कथन-दीक्षा' ही समव है—जिससे इस स्तर के साधक को स्वरूप बोध होता है। यह कथन दीक्षा स्पष्टीकरण के निमित्त 'इस त्रिकोण के मध्यबिंदु तुम' तक चलती रहती है जिसके द्वारा मनु को वह यह समझा देती है कि ये इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया जैसी विभिन्न शक्तियां तुम्हारी स्वातंत्र्यात्मक मूल शक्ति के ही प्रसार हैं। मूल शक्ति स्वयं श्रद्धा है और श्रद्धा शक्तिमान मनु से अपृथक् है। इस प्रकार शक्ति और शिव का सामरस्य हो जाता है। आगमिक अद्वयवाद का शांकर अद्वैतवाद से यही अंतर है कि वहां के अद्वयतत्व में चिन्मयी कर्तृत्वशक्ति का सामरस्य नहीं है और यहां है। श्रद्धा या आत्मशक्ति की प्रत्यभिज्ञा की वास्तवस्थिति इसलिये भी है कि 'पूर्णकाम' के साधक मनु को एतदर्थ उस 'अमला' की 'पहचान' को आरंभ से ही 'प्रसाद' जी साधन बताते आ रहे हैं। अत उस स्थान को वास्तव में प्रत्यभिज्ञा का स्थल न मानना समस्त समारंभ की भी अवहेला है।

इस प्रकार श्रद्धा ने 'आनदवाद' का रहस्य स्पष्ट करते हुए जो कुछ दिया है वह यह कि दुःखात्मक संसार से भागकर सीमित सुख की उपलब्धि, वास्तव आनन्द या मोहमय भूमा की उपलब्धि नहीं है, बल्कि हृदय की रम्य विभूतियों के सहारे, आकर्षण के मार्ग से, योग्यतार्जन-पूर्वक आत्मशक्ति की पहचान द्वारा दुःख को भी सुखात्मक रूप में परिणत कर, अचिदंश का भी चिन्मयीकरण कर आनंद की या भूमा की उपलब्धि है। यही 'कामायनी' में 'प्रसाद' निरूपित 'आनदवाद' का स्वरूप है।

अङ्ग जनपद : नाम की व्युत्पत्ति

रामरघुवीर प्रसाद सिंह

'अङ्ग' महाकाव्यों और पुराणों और अन्य स्त्रोत-ग्रंथों में एक जनपद, एक जन तथा एकाधिक राजा का नाम है। महाकाव्यों और पुराणों में नाम शब्द के निर्वचन की परिपाटी प्रचलित रही है। इस परिपाटी के कारण पुराण-परंपरा की अनेक कल्पित कथाओं का सूत्रपात और विकास हुआ है।

जनपद के अर्थ में इस नाम का निर्वचन वाल्मीकि रामायण[१] में इस प्रकार है : पहले कन्दर्प देहधारी था। उस काल में एक बार शिव गङ्गा और सरयू के संगम पर तप करते थे और अपनी समाधि समाप्त कर मरुद्गणों के साथ लौट रहे थे। उसी समय दुर्बुद्धि कन्दर्प ने उन पर आक्रमण किया। महात्मा शिव ने हुंकार कर दृष्टि-निक्षेप किया। उनके कराल कोप की ज्वाला में कन्दर्प के सारे अङ्ग गल-गल कर गिर गये और वह उसी दिन से अनङ्ग हो गया। जिस स्थान पर उसने अङ्ग-त्याग किया था वह अङ्ग विषय के नाम से ख्यात हुआ। इस प्रकार कन्दर्प के अङ्ग-त्याग की स्मृति को रक्षित करने की भावना ने उस विषय विशेष को अङ्ग नाम से अभिहित किया—ऐसा कुछ निर्वचनकार का मंतव्य ज्ञात होता है।

अङ्ग जनपद के इस नाम का कारण बताते हुए 'सुमङ्गल-विलासिनी'[२] में कहा गया है कि अङ्ग लोगों ने यह नाम अपने अङ्गों की सुन्दरता के कारण पाया। धीरे धीरे यह नाम रूढ़िवश उन लोगों के स्थान पर उस जनपद के लिए भी प्रयुक्त होने लगा, जहाँ वे रहते थे।

वाच्यार्थ का सूत्र पकड़ कर कल्पना और अनुमान के प्रसार के अच्छे उदाहरण वाल्मीकि रामायण और सुमङ्गल-विलासिनी निर्वचन में मिलते हैं, जो पुराण कथा और काव्य के भले ही उपयुक्त हों, इतिहास के आधार के लिए बिल्कुल उपयोगी नहीं हो सकते।

किन्तु, सुमङ्गल-विलासिनी[३] में यह भी कहा गया है कि इस प्रदेश में अङ्गा नामक लोग रहते थे, इसलिए यह जनपद उनके नाम पर अङ्ग कहलाया। अङ्ग जनपद को धम्मपदट्ठ कथा में[४] एक रट्ठ (राष्ट्र) कह कर पुकारा गया है। इस तथ्य के संबंध में ब्राह्मण, बौद्ध और

---

१. १, २३, ५-१४।

२. जिल्द पहली, पृ० ७२९, भरत सिंह उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३४५।

३. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३४५।

४. उपरिवत्, पृ० ३४३।

जैन सभी स्रोत-ग्रन्थ एक मत हैं। प्राचीन काल में जनपदों का स्वरूप जन-जातियों के रूप में था और भौगोलिक अर्थ उनके साथ जुड़ा हुआ नहीं था, परन्तु बाद में इन जन-नामों का प्रयोग स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में उन भौगोलिक स्थानों के लिए होने लगा जहां उन जातियों का सन्निवेश था। जनपदों की प्राचीन सूचियाँ इस तथ्य के प्रमाण हैं।

महाभारत५ ने, पुराणों की परम्परा में, अङ्ग देश के नामकरण के संबंध में उपर्युक्त निर्वचनों से सर्वथा भिन्न, एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है औतथ्य दीर्घतमस् मामतेय के नियोग से प्राची के राजा बलि की स्त्री सुदेष्णा के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए—अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म और पुण्ड्र। ये पूर्व के जनपद अथवा राज्य बताये गये हैं। बलि ने अपने पाँचो पुत्रों में राज्य का बँटवारा कर दिया और, फलतः, पूव में इन राज्यों की उत्पत्ति हुई। महाभारत और पुराणों की यह अनुश्रुति इतिहास की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण अथवा सुमङ्गल-विलासिनी के निर्वचन से अधिक महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि इसे भी पुरातत्त्वविद् निर्भ्रान्ति तथ्य के रूप में स्वीकारने की स्थिति में नहीं हैं।

सिलवाँ लेवी६ ने अङ्ग-वङ्ग, कलिङ्ग-त्रिलिङ्ग, कोसल-तोसल, पुलिन्द-कुलिन्द, उत्कल-मेकल आदि देश-जन वाचक शब्दों को प्रागार्य और प्राग्द्रविड माना है, आर्यभाषा संस्कृत का नहीं। उनके मतानुसार ये शब्द उस जन-जाति की भाषा के हैं जिसे आग्नेय नाम से अभिहित किया जाता है। आग्नेयवंशी भाषाओं७ का वंश भारत में मुण्डा कहलाता है, जो इस देश में बोली जानेवाली भाषाओं में सर्वाधिक प्राचीन है। संथाल परगना और छोटानागपुर, मध्य-प्रदेश के कुछ भाग, उड़ीसा और मद्रास, इस विस्तृत क्षेत्र में एक पृथक् आदिम मुण्डा या कोल जाति की सभ्यता अनेक युगों से चली आ रही है।

यदि अङ्ग शब्द को, जैसा कि सिलवाँ लेवी का मत है, आग्नेय भाषा का मान लिया जाये तो पौराणिक अनुश्रुति काफी सन्दिग्ध जान पड़ने लगती है, क्योंकि, प्रायः, पुराणकारों ने भी प्रचलित परिपाटी के अनुरूप नामों के निर्वचन में कल्पित कथाओं का आश्रय लिया है। पार्जिटर८ का अभिमत है कि नामों को नहीं समझ सकने के कारण ही नाम से संबंधित पौराणिक मिथकों का विकास हुआ है। दीर्घतमसवाली कथा के संबध में सिलवाँ लेवी९ का अनुमान

---

५. १।१०४।

६. प्री आर्यन एंड प्री द्राविडियन इन इंडिया, पृ० ६३-९७।

७. राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० ३७।

८. ए० आइ० एच० टी० पृ० १६३।

९. प्री—आर्यन एण्ड प्री—द्रवीडियन पृ० ७२-७३।

है कि लोकवार्ता के अध्ययन से ऐसी स्थानीय पुराकथाएँ आग्नेय क्षेत्र को उद्घाटित होंगी। मेरे विचार से, इस प्रसग में, एक उदाहरण असमीचीन नहीं होगा। हरिवंश१० में कहा गया है कि मनु का ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु, जो सूर्यवंश के प्रतापी और प्रथित राजकुल का मूल पुरुष है, अपने पिता की नाक से छींकने के समय उत्पन्न हुआ था। इक्ष्वाकु शब्द का छींकने की ध्वनि (आक-छीं) के साथ श्रुतिसाम्य है। मूल शब्द से अपरिचित होने के कारण ही श्रुति-साम्य के आधार पर इस दन्त कथा की रचना हुई होगी। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या११ ने इक्ष्वाकु शब्द को, जिसका पालिरूप ओक्काक (ओक्काकु ?) है, सस्कृत भाषा का मानने में सन्देह प्रकट किया है। यद्यपि इस प्रकार के सन्देह का कोई संगत आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है तथापि सन्देह के निरसन का भी कोई दृढ़ आधार नहीं है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि पार्जिटर१२ ने इक्ष्वाकुवंश को आर्यतर माना है और द्रविड होने का अनुमान किया है। यह अधिक संभव है कि आर्येतर जातियाँ आर्यों के दीर्घ साहचर्य में जब समन्वयमूलक संस्कृति के निर्माण में दत्तचित्त हुई होंगी तब राजाओं की वंशावली और इतिवृत्त का संकलन करने वाले पौराणिक सूतों ने उन्हें आर्यवंश से संबंधित कर देने के प्रयास में लोक-वार्ता की यह पद्धति अपनायी होगी१३। ऐसी स्थिति में कहीं प्रागार्यसंभूत दन्तकथाएं अपना ली गयी होंगी और कहीं नयी दन्तकथाएं गढ़ी गयी होंगी। जनपदों के विकास काल में जनपदीय इकाई की भावना ने एक समान पूर्वज की कल्पना को संवर्धित करने में मदद पहुँचायी हो, तो आश्चर्य नहीं।

जो भी हो, लेकिन, सिलवाँ लेवी के मतानुसार, आर्येतर शब्द होने के कारण ही, अङ्ग सबंधी पौराणिक अनुश्रुति को कपोल-कल्पित मानने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि, एक तो इस प्रकार की अनुश्रुति किसी-न-किसी ऐतिहासिक तथ्य से संबंधित होती है, दूसरे, पार्जिटर ने पौराणिक नामों के तुलनात्मक विवेचन के आधार पर यह कहा है कि "कभी-कभी राजाओं और ब्राह्मणों के नाम जन अथवा स्थान के नाम पर रख दिये जाते थे। एक जन का नाम अश्मक था, किन्तु यह अयोध्या के एक राजा का नाम भी था और एक ब्राह्मण

---

१०. 'क्षुवतश्च मनोस्तात इक्ष्वाकुरभवत सुत।'
— हरिवंशपर्व, ११।१२।

११. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, प्र० सं०, पृ० ५८।

१२. एन्शियन्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, पृ० २९५।

१३. इस प्रकार का प्रयास पुराणों में वर्णित कई आर्येतर जातियों तथा मध्यकालीन कई राजपूत कुलों के उद्भव की कहानी में लक्षित किया जा सकता है—ले०।

का भी। अङ्ग एक देश का नाम था और उस देश के निवासी जन का और उस देश के राजा का, जिसके नाम से वह ख्यात हुआ, और ऋग्वेद (१०।१३८) के एक प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषि का[१४]।" बलि के पुत्रों के नामकरण के संबंध में यह तथ्य काफी महत्त्वपूर्ण है कि जनपदों के नामपर राजाओं का नामकरण होता था और आर्य कहे जाने वाले जन में भी यह नाम अप्रचलित नहीं था।

उपर्युक्त मतों और तथ्यों को एक सही परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार करने से यह युक्ति संगत प्रतीत होता है कि प्राची के राजा बलि ने अपने पुत्रों के नाम प्राच्यजनों के नाम पर रखे। सभवत. जनपदों पर विजय-अभियान को स्मरणीय बनाये रखने अथवा राजनय के कारण इस प्रकार के नामकरण की प्रवृत्ति हुई हो। बलि के पाँच पुत्रों में, जो क्रमश: पाँच जनपदों के स्वामी हुए, अङ्ग नामक पुत्र का अस्तित्व स्वीकार करने में सन्देह का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि उसकी पूरी वशावली महाभारत और पुराणों में मौजूद है। बलि के अन्य किसी पुत्र की वशावली महाभारत या पुराणों में उपलब्ध नहीं होती, और उनसे सबधित एकाध जनपद अथवा जन, जैसे पुण्ड्र के बारे में दूसरी अनुश्रुतियां भी मिलती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१८)[१५] के अनुसार विश्वामित्र के ज्येष्ठ पचास पुत्रों ने शुनःशेप को अपने बड़े भाई के रूप में स्वीकार नहीं किया था। अतः रुष्ट विश्वामित्र से अभिशप्त वे सब अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब नामक दस्यु हो गये। महाभारत (आदि पर्व, १७४।३६-३८)[१६] में विश्वामित्र द्वारा अपहरण करते समय वशिष्ठ की नन्दिनी गौ से शक, किरात, यवन आदि के साथ पौण्ड्र की उत्पत्ति का उल्लेख है। इन तथ्यों से इस बात की पुष्टि ही होती है कि इन जनपदों में आर्येतर जातियों का सन्निवेश था और आर्यों ने भूसन्निवेश और विजय-अभियान के द्वारा इन जनपदों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

एक पुराकथा[१७] के अनुसार चाक्षुष मन्वन्तर में भी अङ्ग नामक एक राजा हुआ था, जिसका पुत्र पुराण-प्रसिद्ध वेन नामक राजा हुआ। उसके अत्याचार से उत्पीड़ित प्रजा का

---

१४. ए० आइ० एच० टी० पृ० १३१-३२।

१५. 'तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दस. पञ्चाशत् कनीयांस इति। तद् ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे।ताननुव्याजहारान्तान् व. प्रजान् भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्रा. पुण्ड्राः शबरा. पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा इति।'

१६. विष्णुपुराण, १।१३।

१७. हरिवंश पुराण हरिवंश पर्व, ६।

नेतृत्व करते हुए आर्य ऋषियों ने उसे मार डाला तथा उसकी मृत देह का मंथन कर पृथ्वी-पालक पृथु नामक राजा को उत्पन्न किया। पुराणों में पृथु की कथा एक रूपकात्मक अभिप्राय ग्रहण करती मालूम पड़ती है। राजा पृथु कृषि और वाणिज्यवाली सभ्यता के प्रवर्तन का प्रतीक बन गया है और सभ्यता के दो स्तरों के संघर्ष तथा उन्नत स्तर की विजय का इतिहास इस कथा में उपगूहित है। इस संदर्भ में कथा के निम्नोद्धृत अंश विचारणीय हैं

"चाक्षुष मन्वन्तर में पृथ्वी के प्रदेश ऊँचे-नीचे थे। पूर्व सर्ग में पृथ्वी के विषम होने के कारण नगर और ग्रामों का विभाग नहीं हुआ था। उस समय न किसी प्रकार का धान्य होता था,न गोपालन, न कृषि और न वाणिज्य। वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के आने पर वेनपुत्र पृथु के समय से ही इन सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है।"१८

"पृथु ने प्रभु स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बना कर पृथ्वी रूपी गौ से सब प्रकार के धान्यों को दुहा। फिर ऋषियों ने भी भूमि को दुहा। उस समय सोम उनका बछड़ा हुआ, अङ्गिरा के पुत्र महातेजस्वी बृहस्पति दोग्धा बने और छन्द (वेद) पात्र। उससे तपोमय शाश्वत ब्रह्म अनुपम दुग्ध के रूप में प्रकट हुआ था।"१९

इसमें सन्देह नहीं कि पहले अवतरण में दो मन्वन्तरों (मानव-सभ्यता) के संधिकाल का इतिहास है जिसके पश्चात कृषि और वाणिज्य वाली सभ्यता का विकास हुआ और दूसरे में ऋषियों द्वारा प्रवर्तित वैदिक संस्कृति के प्रसार और विकास का।

हरिवंश में चाक्षुष मन्वन्तर का आवश्यक विवरण इस प्रकार है

"चाक्षुष ने मनु नामक पुत्र को उत्पन्न किया। वराज प्रजापति के वंश से उत्पन्न इस परम तेजस्वी मनु ने दस श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न किये—उरु, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवान्, कवि, अग्निष्टुत, अतिरात्र, सुद्युम्न और अभिमन्यु। प्रथम पुत्र उरु से अङ्ग, सुमना, ख्याति, क्रतु, अङ्गिरा और गय, ये छह पुत्र उत्पन्न हुए। अङ्ग से वेन की उत्पत्ति हुई। वेन के अत्याचार के कारण ऋषियों ने उसे मार डाला और उसी की दाहिनी भुजा से पृथु को उत्पन्न किया।२० सर्वप्रथम ऋषियों ने वेन की दाहिनी जंघा को मथा। उसमें से एक अत्यन्त ठिगना और अत्यंत काला पुरुष निकला। वह निषादों का वंश-प्रवर्तक था। उस से धीवरों की उत्पत्ति

---

१८. हरिवंश पु०, हरिवंश पर्व, ६।१३-१६।

१९. उपरिवत्, १९-२१।

२०. हरिवंश पर्व, २।१६-२१। विष्णुपुराण (१।१४।१-२) में 'गय' को पृथु का प्रपौत्र कहा गया है।

हुई। इन धीवरों के अतिरिक्त विन्ध्य में निवास करने वाले तुषार और तुम्बर भी वेन के पाप से उत्पन्न हुए।२१ पृथु राजसूय यज्ञ में अभिषिक्त होनेवाले राजाओं में प्रथम हैं। उनके स्तुति कार्य के लिए सूत तथा मागधों का आविर्भाव हुआ।२२ पृथु के राज्यकाल में पितामह के शुभ यज्ञ में सोमलता का अभिषव करते समय सूत की उत्पत्ति हुई थी। उसी यज्ञ में मागध भी प्रकट हुआ। देवता और ऋषियों ने पृथु की स्तुति करने के लिए उन दोनों का वहाँ आवाहन किया था।२३ उसी समय से लोक में स्तुति के अवसरों पर सूत, मागध और वन्दियों द्वारा आशीर्वाद दिलाने की प्रथा आरंभ हुई। पृथु ने दोनों (सूत और मागध) की स्तुतियों से प्रसन्न होकर सूत को अनूप देश और मागध को मगध देश दे दिया।२४

पुराण-परम्परा के अनुसार वतमान सर्ग वैवस्वत मनु का और पूर्ववर्ती विगत-सर्ग चाक्षुष मनु का था।२५ उसी हरिवंश२६ में वर्तमान सर्ग के मनु-वंश की कथा इस प्रकार है.

"प्रजापति मनु ने पुत्र की कामना से मित्रावरुण की इष्टि की। उससे इला नामक कन्या उत्पन्न हुई। मित्रावरुण ने उस पर प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम हमारी पुत्री के रूप में प्रसिद्ध होगी और मनु का वंशधर सुद्युम्ननामक पुत्र भी होगी। आशीर्वाद पा कर वह अपने पिता मनु के पास वापस जा रही थी कि बुध ने उसे सहवास के लिए आमंत्रित किया। चन्द्रमा के पुत्र बुध द्वारा इला के गर्भ से पुरूरवा की उत्पत्ति हुई। पुरूरवा को उत्पन्न करने को बाद इला पुरुष बन गयी और उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्न के उत्कल, गय और विजताश्व नामक तीन परम धार्मिक पुत्र हुए। उत्कल की राजधानी उत्कला हुई और गय की राजधानी पूर्वदिशा में गय नाम की पुरी हुई।"

चाक्षुष और वैवस्वत मन्वन्तर के मनु वंश की कथा पुराणेतिहास के लिए कई दृष्टियों से उपयोगी है। पुराणेतिहास के कई सूत्र इस कथा में उलझे हुए हैं। इसमें अनेक प्राचीन जनजातियों को एक संहित इकाई प्रदान करने की चेष्टा लक्षित हो जाती है। पृथु की कथा

---

२१. उपरिवत, ५।१६-२१।

२२. उपरिवत्, २।२४। 'राजसूयाभिषिक्तानामाद्य: स वसुधाधिप। तस्माच्चैव समुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ।'

२३. उपरिवत्, ५।३३-३४।

२४. उपरिवत्, ५।४१-४२।

२५. उपरिवत्, ७।४-५।

२६. उपरिवत्, १०।३-१९।

में सूत और मागध जनों का समाहार किया गया है तथा इला की कथा में सुद्युम्न के वंशधर उत्कल और गय का। ध्यानीय है कि सुद्युम्न और गय नाम चाक्षुष मनु के वंशधरों में भी मिलते हैं। वैवस्वत मनु के यज्ञ से उत्पन्न होने वाली इला जिस प्रकार मित्रावरुण का आशीर्वाद पा कर सुद्युम्न बन जाती है उस से स्पष्ट हो जाता है कि दो मनुवंशों की कथा को एक ही मूल से जोड़ने की चेष्टा है जिसमें नारी और पुरुष के एकाधार का मिथक प्रयुक्त किया गया है।

चाक्षुष मन्वन्तर की कथा अलग से शोध का विषय है। यहां केवल यह प्रतिपादित करना अभीष्ट है कि चाक्षुष मन्वन्तर नामक पूर्व युग में जब प्राच्य जनपदों में याज्ञिक विधानों का प्रसार तथा कृषि और वाणिज्य का प्रवर्तन भी नहीं हुआ था उस समय प्राच्य भारत में अनेक जनपदों और जनजातियों—जैसे, सूत, मागध उत्कल, गय आदि का अस्तित्व था। इस से मगध, गया, उत्कल आदि के साथ अङ्ग की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इतिहास : स्वरूप-व्याख्या, उपकरण एवं रचना पद्धति

गोविन्दजी

'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति किंचित कौतूहलोत्पादक है। यह शब्द तीन शब्दों इति, ह तथा आस के संयोग से बना है जिसका अर्थ है "यह इस प्रकार हुआ" अत: "इतिहास" "शब्द का सामान्य अर्थ हुआ विगत घटनाओं का वृत्तान्त"।१ अंग्रेजी में इतिहास के लिए 'हिस्टरी' शब्द का प्रयोग होता है जो ग्रीक शब्द 'इस्तोरिया' का अंग्रेजीकरण है। ग्रीक भाषा में 'इस्तोरिया' का अर्थ है 'गवेषणा' या गवेषणा से प्राप्त जानकारी।

किन्तु प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग केवल उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में ही नहीं हुआ है। महाभारतकार के अनुसार अर्थ, धर्म काम और मोक्ष से समन्वित पूर्व वृत्त और कथा ही इतिहास है।२ कौटिल्य ने तो स्पष्ट कहा है कि पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सब इतिहास है।३ विष्णुपुराणकार ने इतिहास की विषय-वस्तु की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि '—

आर्षादि बहुव्याख्यान देवर्षिचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तम् भविष्याद्भूतधर्मयुत॥

अर्थात् जिसमें आर्षचरित्रों, कथाओं आदि की व्याख्या हो, जो देव और ऋषियों के चरित्र पर आधारित तथा भविष्य और भूत के धर्म से युक्त हो, वही इतिहास है।

आजकल 'इतिहास' शब्द का प्रयोग प्राय तीन अर्थों में किया जाता है। प्रथम, इसके अंग्रेजी पर्याय 'हिस्टरी' के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में जिसका तात्पर्य है 'गवेषणा' या 'गवेषणा से प्राप्त जानकारी अथवा 'गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान'। इसका अन्तर्निहित भाव है तथ्य का अन्वेषण, अनुसंधान, अनवरत अनुसरण। तथ्य का यह अन्वेषण मानव या विश्व के किसी ऐसी अन्य वस्तु से संबंधित हो सकता है जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया होती है।

द्वितीय, घटनाओं के वास्तविक क्रम को द्योतित करने के लिये 'इतिहास' शब्द का प्रयोग होता है। जब हम अशोक, अकबर अथवा नेपोलियन को 'इतिहास का निर्माता' कहते हैं तो हमारा आशय यह नहीं होता कि वे इतिहास के लेखक थे, वरन् यह कि उन्होंने विश्व के घटना-

---

१. पं० विष्णुशास्त्री चिपलूणकर. इतिहास (हिंदी अनुवाद, १९१५ ई०) पृ० ३।

२. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्त कथायुक्तमितिहास प्रचक्षते॥ (महाभारत)

३ पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरण धर्मशास्त्रर्थशास्त्रं चेतोतिहास:। (अर्थशास्त्र १।१५।१४)।

प्रवाह को मोड़ा है और उसे एक गति दी है। इसी प्रकार जब हम 'इतिहास के प्रभाव' की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य इतिहास ग्रन्थों का प्रभाव न होकर परिस्थितियों का प्राबल्य है। यहां 'इतिहास' का अर्थ स्पष्ट ही घटित घटनाओं का आलेखन न होकर स्वयं आलेख्य घटनाएं हैं, चाहे वे किसी से संबंधित हों।४

जिस तीसरे और महत्वपूर्ण अर्थ में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग होता है, वह है विश्व के अथवा उसके कुछ अंशों के घटना-प्रवाह का आलेखन। यह सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग है और इसी अर्थ में हम भारत, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों तथा कला, विज्ञान, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि विषयों की अथवा किसी भी ऐसी वस्तु के इतिहास की बात करते हैं जो कालक्रम में विकसित हुई है और अपने अनन्तर विकास के पद चिह्न छोड़ती चली गयी है।

इतिहास का स्वरूप और उसकी व्याख्या

जैसा कि, ऊपर संकेत किया गया है, इतिहास इस परिवर्तनशील संसार या उसके कुछ अंशों के घटना-प्रवाह का आलेखन है, अतीत की कहानी है। किन्तु जब कोई व्यक्ति, चाहे वह सामान्य ही क्यों न हो, बिना किसी व्याख्यात्मक संदर्भ के इतिहास की चर्चा करता है तो ऐसा मान लिया जाता है कि उसका संकेत अपने जातीय जीवन की कथा की ओर है। इस दृष्टि से इतिहास का संबंध प्रधान रूप से मनुष्य और उसके क्रिया-कलापों से है और वह अतीत कालीन घटनाओं तथा उन घटनाओं से संबधित व्यक्तियों के चरित्र का लिखित स्वरूप है। अतीत की घटनाओं और व्यक्तियों से संबंधित होने के कारण ही इतिहास का संबंध प्रायः नाम, घटना और तिथियों से जोड़ा जाता है।

अत्यन्त प्राचीन काल से 'इतिहास' शब्द अपने इसी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। किन्तु मूल रूप में उक्त अर्थ देने पर भी इतिहास-रचना के स्वरूपों और उसकी व्याख्या में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं और इसके परिणाम-स्वरूप उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूपों और रचना-पद्धतियों में अन्तर होता रहा है। प्राचीन इतिहास लेखकों के सम्मुख इतिहास प्रधानतः व्यक्तिपरक होता था और सम्राटों राजनीतिज्ञों, सेनापतियों एवं महत्वपूर्ण तेजस्वी पुरुषों के विविध क्रिया कलापों का लेखा-जोखा मात्र था। उसमें युद्धों, राजनीतिक षडयंत्रों, धार्मिक विद्रोहों आदि की केवल सूचना भर होती थी। इसी कारण ऐसे इतिहास

---

४. एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खंड ११, पृ० ५९५।

को कार्लाइल ने 'वीरकर्मी महान पुरुषों का इतिहास, तथा जान रिचार्ड ग्रीन ने 'ढोल और तुर्य का इतिहास' कहा है। उक्त प्रकार का इतिहास वैयक्तिक घटनाओं का इतिहास होता था, उसमें व्यक्तिगत उद्देश्यों की चर्चा के साथ प्रेम, घृणा, युद्ध, महत्वाकांक्षा, विरोध, पतन, लोभ आदि की कहानी होती थी।

परन्तु कालान्तर में इतिहास संबंधी दृष्टिकोण में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और इतिहास का संबंध केवल विशिष्ट एवं प्रभावशाली व्यक्तियों से ही नहीं रह गया। व्यक्ति से आगे बढ़कर इसने देश और समाज, सामान्यजन की जीवन-दशा, उनमें होने वाले विविध परिवर्तनों, समाज को परिचालित करने वाली विचार-पद्धतियों एवं उनसे उत्पन्न शासन-तंत्रों तथा उनमें परिवर्तन ले आने वाली भौतिक परिस्थितियों को भी अपने में अन्तर्भुक्त कर लिया[५] और अपनी संपूर्णता एवं विविधता में मनुष्य-जीवन की विकासधारा को भी अपना प्रतिपाद्य विषय बना लिया। इसी कारण आज के इतिहासकार का उद्देश्य व्यामोहित कर देने वाले अव्यवस्थित ऐतिहासिक रूपों की विविधता जैसे जाति देश, संस्कृति, रीति रिवाज, संस्था धर्म, विचार-पद्धति—को उनके संपूर्ण विशेषताओं तथा परिवर्तन एवं विकास की प्रक्रिया सहित चित्रित करना हो गया है। आज का इतिहास, वास्तव में मानव समाज की कहानी है। उसकी विविधता एवं संपूर्णता की विकसनशील धारा है।

इतिहास के इस स्वरूप-परिवर्तन ने इतिहास को दर्शन का रूप दे दिया। साथ ही साथ इसने उन नियमों का भी अनुसंधान किया जो सामाजिक परिस्थितियों एवं मनुष्य की जीवन-दशाओं को परिचालित तथा नियंत्रित करते हैं तथा ऐसे परिवर्तन लाते हैं जिन्हें उत्कर्ष एवं अपकर्ष अथवा विकास और ह्रास कहते हैं। आधुनिक इतिहासकार के लिए नये इतिहास का भी अपना एक दर्शन है जो एक ओर तो विश्लेषणात्मक एवं तर्कपूर्ण विवेचना की सीमाओं को स्पष्ट करता है और दूसरी ओर संश्लिष्ट प्रभाव की व्यंजना को। मानव समाज के असंख्य घात-प्रतिघात तथा जीवन की अनन्त क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के बीच से आधुनिक इतिहासकार ऐसे शाश्वत नियमों का अनुसंधान करता है जिसका संबंध काल विशेष से न होकर मानव-सभ्यता के स्थायी सत्यों से है। आजका इतिहासकार, इतिहास को काल खण्डों में विभाजित करके नहीं देखता वरन् एक अविच्छिन्न गतिशील धारा के रूप में देखता है और उसकी दृष्टि में प्रत्येक महत्वपूर्ण परिवर्तन या क्रांति की लहर किसी एक विशेष युग की उपज न होकर उसके पूर्ववर्ती समस्त युगों के सम्मिलित प्रभाव से उत्पन्न होती है। इसीलिए वह एक वैज्ञानिक

---

५. ए० एल० राउज : द यूज़ अव् हिस्ट्री, पृ० ५९-६०।

की तरह कार्य कारण संबंध के आधार पर प्रत्येक देश और काल के ऐतिहासिक स्वरूपों एवं परिवर्तनों पर विचार करता है।

इतिहास संबंधी दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम प्रकार का ऐतिहासिक विवेचन जहाँ व्यक्ति-काल सापेक्ष है वहाँ दूसरे प्रकार का व्यक्ति-काल-निरपेक्ष। ऊपर से देखने पर यद्यपि दोनों एक-दूसरे के विपरीत से जान पड़ते हैं, किन्तु उसमें तत्वत कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यह सत्य है कि किसी विशिष्ट युग में ऐसे विशिष्ट शक्ति संपन्न पुरुष हो जाते हैं जो अपने असाधारण कृत्यों से युग की धारा को बदल देते हैं, किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि उनकी असाधारणता के पीछे उनके पूर्ववर्ती समस्त युगों की शक्ति सन्निहित रहती है। ऐसे लोग युगों के अजस्र प्रवाह की एक समुन्नत लहर की तरह होते हैं जो काल की अखण्ड धारा में एक बार ऊँचे उठकर विलीन हो जाते हैं। वस्तुत उक्त दोनों पद्धतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं और इतिहासकार एक के आधार पर दूसरे को समझने का प्रयत्न करता है। सामान्य रूप से इतिहास के प्रथम रूप को इतिवृत्तात्मक इतिहास तथा दूसरे को सांस्कृतिक इतिहास कह सकते हैं। इतिवृत्त का संबंध विशेष व्यक्ति तथा विशेष काल से होता है, पर संस्कृति किसी भी सभ्यता की अन्तर्धारा का अविच्छिन्न प्रवाह है जो समष्टिपरक और व्यक्ति-निरपेक्ष है।[६]

इतिहास के उपकरण और उसका रचना-पद्धति

कोई भी इतिहास चाहे वह इतिवृत्तात्मक हो अथवा सांस्कृतिक, अपने प्राप्य साधन-स्रोतों तथा ऐतिहासिक प्रमाणों से परिसीमित होता है और इन्हीं के आधार पर इतिहासकार इतिहास लिखने का प्रयत्न करता है। इतिहास की संरचना में एक नहीं, अनेक वस्तुओं का योग रहता है जो काल भेदानुसार बदलती रहती हैं। इतिहास के विकास के साथ उनके साधनों का भी विकास होता रहता है। मानव का प्रारम्भिक इतिहास उसके द्वारा प्रयुक्त हथियारों, गृह अवशेषों, शवाधि-स्थानों, गुफाचित्रों उत्कीर्ण चित्रों तथा मूर्तियों आदि द्वारा ही जाना जा सकता है। क्योंकि उस काल की प्रायः ये ही वस्तुएं हमें उपलब्ध होती हैं। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के युग में भौतिक अवशेषों, स्मारकों तथा चित्रों के अतिरिक्त लिखित प्रमाण सामग्री भी उपलब्ध होती है। मानव-इतिहास में लेखन कला और साहित्य का विकास बहुत बाद में हुआ। भारतवर्ष में लेखन-कला का प्रादुर्भाव ईसा से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व सिन्धु उपत्यका के मनुष्यों द्वारा हो चुका था जिसका प्रमाण उनके द्वारा प्रयुक्त

---

६. डा० जगदीश चन्द्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० २।

चित्रात्मक लिपि से मिलता है। दुख है कि अभी तक इस चित्रात्मक लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है। साहित्य-सृजन का कार्य भी भारतवर्ष में मानव-इतिहास में सब से प्रथम हुआ, किन्तु बहुत दिनों तक वह लिपिबद्ध न होकर मौखिक परंपरा द्वारा ही सुरक्षित रहा। ऋग्वेद को मानव जाति की प्रथम साहित्यिक उपलब्धि माना जाता है, किंतु सैकड़ों वर्षों तक वह अलिखित ही रहा और गुरु-शिष्य की पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परम्परा के द्वारा ही उसकी रक्षा होती रही। समूचा वैदिक साहित्य इसी प्रकार अब तक सुरक्षित है।

चूंकि, इतिहास जटिलता एवं विविधता में विकसित होता है, अत मानवीय इतिहास की साक्ष्य सामग्री भी विविध तथा बहुल हो जाती है। ऐतिहासिक युगों में इतिहास के उपकरण न केवल साहित्य (चाहे वह किसी भी प्रकार हो), परम्परा, लोकवार्ता, किवदन्ती लोक-विश्वास, अनुश्रुति आदि के रूप में मिलते हैं, वरन् विविध प्रकार के भौतिक अवशेषों जैसे वास्तु, शिल्प, चित्र, शिलालेख, ताम्रपट्ट, मुद्रा, अभिलेख आदि-के रूप में भी मिलते हैं जिनके प्रतीकों, चिह्नों, मुद्रालेखों, तौल मान बनावट और धातु के द्वारा इतिहास विषयक सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इस प्रकार इतिहास की सरचना में साहित्य, अभिलेख, मुद्रा, कला, शिल्प, स्मारक, दानपत्र आदि अनेक सामग्रियों का योग रहता है।

इतिहासकार इतिहास की संरचना के लिए प्रथमत वर्तमान सामग्री का आधार लेता है। वर्त्तमान सामग्री का संबंध उन घटनाओं और व्यक्तियों से होता है जो एक विशेष वातावरण और देशकाल की सीमा में रहते हुए भविष्य के लिए अपने जीवन एवं युग के कुछ न कुछ चिह्न छोड़ जाते हैं। उनके वे स्मारक तथा अवशेष ही ज्ञात इतिहास के प्रधान उपकरण होते हैं। इतिहास के ये उपकरण इतिहास के 'स्थिर रूप' का निर्माण करते हैं, क्योंकि वे स्वत प्रमाण रूप होते हैं और कालान्तर में उनके परिवर्तन की कोई संभावना नहीं रहती। 'अस्थिर इतिहास' का संबंध ज्ञात इतिहास के उस रूप से है जिसके लिए अतीतकालीन प्रामाणिक स्मारक अथवा साक्ष्य अवशेष नहीं हैं, किन्तु आनुमानिक होते हुए भी उनमें इतिहास की पर्याप्त संभावनाएं हैं। इतिहास का यह स्वरूप स्थिर नहीं रहता और कालान्तर में अन्य प्रमाणों के प्राप्त होने पर इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। 'स्थिर इतिहास' के आधार सब कालों के लिए सत्य हैं और उनके संबंध में निश्चित प्रमाणों का अभाव नहीं होता। नवोपलब्ध प्रमाण प्राय उनका समर्थन ही करते हैं। 'अस्थिर इतिहास' के आधार पौराणिक कथाएं, किवदन्तियां लोकवार्ताएं एवं लोक-विश्वास होते हैं जिनको समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक दृष्टियों से विवेचन तथा विश्लेषण करने के पश्चात् अन्वेषण द्वारा इतिहास के समान मान लिया जाता है। वस्तुत. वे वस्तुएं एक परम्परा से चली आती हैं और इनमें कहीं न कहीं इतिहास का

अंश छिपा रहता है। लोककथा और किंवदन्तियों का इतिहास से कितना गहरा संबंध है, इसका अनुमान भारतीय इतिहास की विक्रमादित्य एवं कालिदास संबंधी समस्या से लगाया जा सकता है। उज्जयिनी के शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नों में महाकवि कालिदास भी थे, इस जनश्रुति ने ५७ ई० वर्ष पूर्व मालव गणपति विक्रमादित्य की खोज के लिए इतिहासकारों को एक नयी दिशा प्रदान की। उक्त लोककथा का लिपिबद्ध रूप 'सिंहासन बत्तीसी' और 'वैताल पचीसी' की कथाओं में उपलब्ध होता है। आज इतिहास की खोजों के बावजूद भी कालिदास और विक्रम के संबंध में इतिहासकारों के निर्णयों का एक बहुत बड़ा भाग किंवदंतियों, जनश्रुतियों और लोक गाथाओं पर ही आधारित है।७

इतिहासकार के पास इतिहास-सरचना के लिए मूल प्रमाणों, पौराणिक कथाओं, किंवदन्तियों, लोक विश्वासों आदि के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उपकरण होते हैं, जो कभी तो प्रत्यक्ष रूप से तथा कभी अप्रत्यक्ष रूप से इतिहास की संरचना में योग देते हैं। ये उपकरण महान पुरुषों के धार्मिक एवं दार्शनिक प्रवचन तथा उपदेश, समाज के नियामकों के आदेश, कुशल तथा प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञों के राजनीति संबंधी विचार एव प्राचीन कवियों और नाटककारों की कृतियों के रूप में उपलब्ध हैं। साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का संबंध व्यक्ति और घटनाओं से प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता। उनके आधार पर इतिहासकार तत्कालीन इतिहास को राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश प्रदान करता है। ये उपकरण वास्तव में सांस्कृतिक इतिहास के आधार हैं। भारत के सुदूर ऐतिहासिक काल के सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान के लिए हमारे पास वेद, उपनिषद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई आधार नहीं। कालान्तर में समाज एव राजनीति के आदर्शों को जानने के लिए सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ स्मृतियां, सूत्र तथा विविध शास्त्र हैं।८ प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था के उद्घाटन के सबसे महत्वपूर्ण साधन कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन का कामसूत्र हैं। इसी प्रकार यूनान के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के उद्घाटन में प्लेटो, अरस्तू तथा सुकरात आदि के ग्रन्थों का अपना विशिष्ट महत्व है।

इतिहास रचना के आधारभूत उपकरणों में साहित्यिक कृतियों का अपना एक विशिष्ट

---

७ श्री केशव प्रसाद मिश्र : 'इतिहास, जनगाथाओं और साहित्य में विक्रमादित्य का स्थान' शीर्षक लेख (हिन्दुस्तानी, जनवरी-मार्च, ४४, पृष्ठ ३०-३१)।

८. पाणिनि के व्याकरण के आधार पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

स्थान है। यद्यपि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऐतिहासिक कहे जाने वाले काव्यों की रचना तथ्य और कल्पना दोनों के सम्मिलित योग से हुई है और दोनों कुछ इस प्रकार एक दूसरे से घुलमिल गये हैं कि उन्हें अलग-अलग करके पहचान लेना सहज काम नहीं है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनके द्वारा प्रयुक्त कथानकों तथा प्रतिपाद्य विषयों में इतिहास की विपुल सामग्री छिपी है प्राचीन भारत की सांस्कृतिक रूपरेखा प्रस्तुत करने में वाल्मीकि,[९] भास, कालिदास,[१०] शूद्रक, हर्ष, भवभूति, बाण[११] आदि कवियों और नाटककारों की कृतियों का महत्वपूर्ण योग है और वे अपने कालों की सांस्कृतिक परम्पराओं तथा जनमानस की विचारधारा का स्पष्ट सकेन करती हैं। कभी-कभी तो इनसे 'स्थिर इतिहास' की महत्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कथानकों के आधार पर ही इतिहासकारों ने मौर्यकाल ओर गुप्तकाल विषयक सूचनाएं प्रस्तुत कीं और गुप्तकालीन इतिहास में रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी संबंधी एक नवीन अध्याय जोड़ा। पश्चात् रामगुप्त की मुद्रा मिलने से इसको समर्थन मिला। इसी प्रकार बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' का हर्षकालीन इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण योग है।

इतिहासकार की इतिहास-रचना-पद्धति के दो प्रधान अंग होते हैं। प्रथम, उपलब्ध सामग्री का अध्ययन, परीक्षण एवं निष्कर्ष निकालना तथा द्वितीय, उस उपलब्ध सामग्री की व्याख्या एव उसके आधार पर स्थापित घटनाओं का धारावाहिक विवरण प्रस्तुत करना। पहली प्रक्रिया एक सीमा तक यांत्रिक होती है और विज्ञान की कोटि में आती है किन्तु दूसरी में संगति एव संभावनाविद्ध कल्पना का स्थान प्रधान होता है। प्रस्तुत सामग्री का अध्ययन और परीक्षण करते समय इतिहासकार की दृष्टि एक विशुद्ध वैज्ञानिक की होती है। प्रस्तुत सामग्री विश्वसनीय है या नहीं, जिन साधारण तथ्यों की स्थापना की गयी है वे न्यायसंगत हैं या नहीं, निकलते हुए निष्कर्ष सत्य हैं या नहीं आदि बातों को वह एक वैज्ञानिक की दृष्टि से जांचता है। किन्तु इतिहास के इन प्राप्त उपकरणों एव सामग्रियों से तथ्यों और निष्कर्षों का संग्रह स्वयं में इतिहास नहीं होता। इतिहास वह तब बनता है जब इतिहासकार इन उपकरणों से प्राप्त तथ्यों के बीच की अज्ञात कड़ियों को जोड़ देता है। इसके लिए इतिहासकार

---

९. वाल्मीकीय रामायण के आधार पर डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास ने 'रामायणकालीन भारत' एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

१०. डा० भगवतशरण उपाध्याय का 'कालिदास और उनका युग'।

११. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन'।

के पास मौलिक प्रतिभा एवं संतुलित कल्पना शक्ति का होना आवश्यक है। तथ्यों के बीच की श्रृंखला को संबद्ध करने के लिए उसे ऐसी उद्भावना करनी पड़ती है जो कार्यकारण-परम्परा से बाधित तथा संगति एवं संभावना के अनुकूल हो। थोड़े से ज्ञात तथ्यों से संपूर्ण इतिहास का सृजन सश्लेषण शक्ति द्वारा ही संभव है और यह संश्लेषण बिना विश्लेषण के संभव नहीं। विश्लेषण-संश्लेषण की यह क्रिया अज्ञात तथ्यों में संभाव्य निष्कर्षों का आरोप करती है। इतिहासकार की यह 'संश्लिष्ट संभाव्यता' साहित्यकार की यथार्थ कल्पना के अत्यन्त निकट होती है। अन्तर दोनों में केवल यही होता है। इतिहासकार की संश्लिष्ट संभाव्यता ज्ञात तथ्यों तथा निकाले गये निष्कर्षों से इतनी बधी होती है कि उसे मौलिक उद्भावना करने का अधिकार नहीं होता, जबकि साहित्यकार मौलिक उद्भावना करने में स्वतन्त्र होता है। इतिहासकार की इस 'संश्लिष्ट संभाव्यता' को दूसरे शब्दों में हम 'इतिहासमूलक कल्पना' कह सकते हैं। यह 'संश्लिष्ट संभाव्यता' या इतिहासमूलक कल्पना ही इतिहास में भिन्न भिन्न मान्यताओं को जन्म देती है और इतिहास के स्वरूपों का निर्धारण करती है।

'भोट' 'भोटिया' : एक भ्रांति और उसका निराकरण

रामसिंह

भारतवर्ष में अंग्रेजी साम्राज्य ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, अंग्रेजों ने उन सभी अपरिचित स्थानों के इतिहास, भौगोलिक स्थिति, भाषा, रहन-सहन इत्यादि के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त करनी प्रारम्भ की। प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने में उन्हें इस प्रकार की खोजों से बड़ी सहायता मिलती थी और प्रकृत्या जिज्ञासु होने के कारण वे बड़े उत्साह और लगन से अपने राष्ट्रीय हित में काम करते थे। यह उनका गुण था। परन्तु इन सबके ऊपर उनका राजनैतिक स्वार्थ भी रहता था, जो प्राय: उनकी राष्ट्रीय भावना के सदैव अनुकूल चला करता था। यही कारण है कि जहां उन्होंने सारे देश में नये सिरे से भाषा, संस्कृति, इतिहास, भूगोल आदि विभिन्न विषयों के क्षेत्रों में कार्य प्रारम्भ किये, वहीं जहां उन्हें अवसर मिला, अपने राजनैतिक स्वार्थों से प्रेरित होकर वे भेदभाव और फूट के बीज भी बोते गये। इससे उनको लाभ ही लाभ था—यानी उनके कई राजनैतिक स्वार्थ इससे सहज ही में हल हो जाया करते थे। भारत में उनकी यह नीति अधिक सफल रही। वे हमारे लिए अपने दो सवा दो सौ वर्षों के इतिहास में घृणा, फूट, वैमनस्य और अलगाव का इतिहास छोड़ गये। इसीलिए इतिहास के मर्मज्ञ डा० रघुवीर कहा करते थे कि भारतवर्ष के अभी तक लिखे गये इतिहास का अधिकांश असत्य है, जो अंग्रेजों की कल्पना और व्याख्या की देन है।

वे इस देश की जितनी छोटी से छोटी इकाइयां सम्भव थीं, बनाना चाहते थे। यही नहीं वे इसे संसार भर के हमलावरों से आबाद देश के रूप में प्रस्तुत कर गये, क्योंकि वे स्वयं हमलावर होने के नाते इसे भी अन्य हमलावर जातियों के सदृश अपना होमलैंड घोषित करना चाहते थे। इसके साथ ही एक पूर्णतया विदेशी जाति होने के कारण, इस देश के लोगों के सम्बन्ध में सही-सही बातों का पता लगा पाना, उनके लिये कठिन भी था। फिर जिन लोगों से उन्होंने अपने भारत-प्रवेश के प्रारम्भिक वर्षों में पूछताछ की, वे स्वयं नवीन वैज्ञानिक युग की शोध और अनुसंधान सम्बन्धी उपलब्धियों से अवगत न थे। इस प्रकार के कार्यों के लिए जितने गम्भीर विवेचन एवं व्यापक दृष्टि की आवश्यकता थी, उसका परिचय वे नहीं दे सकते थे। फलत: अंग्रेजों या अन्य योरोपीय खोजी लेखकों ने इस देश के जिस किसी विषय पर लिखा, वह निर्भ्रान्त नहीं है। उन भ्रांतियों ने कभी-कभी हमारे राष्ट्रीय जीवन को भी दूषित किया है। उदाहरणार्थ केवल धर्म के आधार पर ही भारत के दो टुकड़े हुए। जिस सिंधु और पंचनद प्रदेश का वेदों, उपनिषदों, पुराणों में वर्णन है, वह अब कहां रहा? पाकिस्तान इतिहास में १९४७ ई० से पूर्व कहीं भी अस्तित्व में नहीं था। भूगोल तो आज

भी इसे अलग भूखण्ड नहीं मानता। पाकिस्तान और वर्तमान विभक्त भारत के निवासी नस्ल या प्रजाति की दृष्टि से भारतीय पूर्वज ऋषियों की सन्तान हैं, पर विडम्बना देखिये कि अंग्रेज या यूरोपीय इतिहास-लेखकों और मजहबी जोश वाले मुसलमान लेखकों ने धर्म को प्रमुखता देने वाले इतिहास को महत्त्व दिया न कि नस्ल या प्रजाति तथा भौगोलिक परिवेश को। यही कारण है कि नस्ल या प्रजाति से हम सभी एक होते हुए भी धर्म के कृत्रिम भेदभाव के कारण दो पृथक राष्ट्रों के रूप में हो गये। दूसरी ओर कुछ धर्माचार्यों ने अपनी असमर्थता को छिपाने के लिए उदासीनता का मार्ग लिया। कैलाश-मानसरोवर जो हिन्दुओं का येरुशेलम या मक्का-मदीना है, आज उनके हाथ से निकल गया। इतिहास और भूगोल दोनों से सदा दूर रहने वाले धर्माचार्य भले ही यह कहकर अपने सिर को बला टाल दे कि, "कैलास तो दिव्य धाम है, अपार्थिव लोक है ...", परंतु जो पार्थिव है, इसी लोक में रह रहा है और संसार के भले बुरे का साझेदार है, उसे यह तर्क संतुष्ट नहीं कर सकता तथा न केवल कागजी सिद्धान्तों से राष्ट्र का कोई भला ही सम्भव है।

ऊपर हम जिन भ्रांतियों के निराकरण की समस्या की ओर संकेत कर चुके हैं, उसी प्रकार की एक भ्रांति हमारे हिमालयवर्ती उत्तरी भाग में निवास करने वाली व्यापारी जातियों के संबन्ध में अंग्रेजी शासन-काल में उत्पन्न की गई, जिसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान ही नहीं गया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिमालय में निवास करने वाले लोगों के धर्म, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, भाषा-बोली तथा प्रशासन के सम्बन्ध में अनेक यूरोपीय लेखकों ने सराहनीय कार्य किया जिनमें ई० टी० अटकिसन[1], जे० बी० ओ० विकेट,[2] ई० के० पाव[3], सी० ए० शेरिंग,[4] ई० एस० ओकले[5], स्वेन हेडीन,[6] ए०

---

१. हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स अव् एन० डब्ल्यू० एफ० पी० ३भाग, इलाहबाद—१८८२-८४

२. रिपोर्ट आन सैटिलमैंट आपरेशन्स इन गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद—१८८६।

३. रिपोर्ट आन टेन्थ सेटिलमेन्ट अव गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद, १८९६।

४. (क) वेस्टर्न टिबेट एंड ब्रिटिश बोडरलैंड, लंडन १९०६ और (ख) नोट्स आन भोटियास अव् कुमाऊं एण्ड ब्रिटिश गढ़वाल, कलकत्ता, १९०३।

५. होली हिमालया, लंडन, १९०६।

६. ट्रान्स—हिमालयाज़, मैकमिलन, १९१०, १९१३।

वाल्टन,७ डी० ए० स्टीवैल,८ जे० एम० क्ले९, ए० डब्ल्यू० ह्वीटसन,१० बैटन ११ आदि विद्वानों, प्रशासकों तथा पादरियों आदि का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन सभी लेखकों ने उत्तर-प्रदेश के कुमाऊं-गढ़वाल संभाग के सीमान्त अंचल में रहने वाले लोगों को 'भोटिया' तथा उनके भूखण्ड को 'भोट' लिखा है। भोटियों तथा उनकी निवास भूमि 'भोट' की भौगोलिक सीमा कुमाऊ के जिला पिठौरागढ़ के जोहार परगने के अन्तर्गत तेजम तथा दारमा की धौली गंगा के कालीनदी से मिलन स्थल (जो धारचूला से साढ़े ग्यारह मील आगे उत्तर में है) के खेला नामक समीपवर्ती स्थान के उत्तर का तिब्बतकी सीमा को छूने वाला समस्त भारतीय भूखण्ड 'भोट' है।१२ उत्तरकाशी जिले में जैलू खंगा गिरिद्वार के पास जाड गंगा और भागीरथी की घाटी तथा चमोली जिले के माणा गिरिद्वार के पदतल में विष्णुगंगा की घाटी एवं चमेली के पूर्व की ओर नीनी गिरिद्वार के पदतल में, धौलीगंगा की घाटी गढ़वाली 'भोट' है।१३ उत्तरकाशी और चमोली जिलों के इस भूखण्ड को प्राकृतिक रचना के आधार पर अलकनन्दा-उपत्यका भी कहा जाता है। सम्मिलित रूप से महाहिमालय के इस समस्त भूखण्ड के लिए 'भोट' शब्द का पहले-पहल यूरोपीय लेखको द्वारा ही व्यापक प्रयोग हुआ।

कुमाऊं या गढ़वाल के प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों में ऊपर बताये गये प्रदेशों के लिए 'भोट' या 'भोटिया' शब्दों की पूर्णतया अनुपस्थिति है, क्योंकि इस बात से सभी सहमत हैं कि 'भोट' का अभिप्राय तिब्बत और 'भोटिया' का तिब्बती से है। आज भी कुमाऊं में तिब्बती सामान को भोटिया और बड़े तिब्बती कुत्ते को भोटिया कुत्ता कहने का प्रचलन है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा उक्त भारतीय प्रदेशों को 'भोट' (तिब्बत नहीं) लिखने के कारण बाद के भारतीय लेखकों को उसी का अनुसरण करते हुए पाठकों द्वारा भ्रांति कर जाने की आशंका

---

७. गेजेटियर अव कुमाऊं एंड, गढ़वाल, १९११।

८. मैनुअल आव लैंड टेन्युर्स अव कुमाऊं डिविजन (हिल ट्रैक्स) इलाहाबाद, १९१६।

९. नोट्स आन भोटियाज़ अव ब्रिटिश गढ़वाल, १९१५ (डा० डबराल)।

१०. फरदर नोट्स आन भोटियाज़ अव् ब्रिटिश गढ़वाल, १९३०।

११. आफिसियल रिपोर्ट अव प्रोविंस अव कुमाऊं आगरा, १९४१।

१२. विशेष देखिए पू० पा० स्वामी प्रणवानन्द, एफ० आर० जी० एस०, 'कैलास-मानसरोवर' (अंग्रेजी) पृ० ९८।

१३. डा० शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक (अलकनन्दा उपत्यका) में प्रवास, भाग-२, पृ० ५५-७६, दोगड्डा, गढ़वाल।

प्रकट करते हुए यह लिखना पड़ा कि जिस 'भोट' का वे वर्णन कर रहे हैं, वह तिब्बत न समझा जाय।१४ 'भोट' और 'भोटिया' शब्द की अस्पष्टता के कारण एक और भारतीय विद्वान् लेखक की पुस्तक में एक स्थान पर 'भोट' (उत्तर-प्रदेश का उत्तरी सीमान्त) को तिब्बत से भिन्न मानते हुए भी 'भोट' और तिब्बत का परम्परागत पर्याय अनायास ही प्रयुक्त हो गया है, "द टिबेटन आर भोटिया रीजियन"।१५

'भोट' और 'भोटिया' शब्दों के अधूरेपन तथा इनमें विदेशीपन की गंध होने के कारण भूल हो जाने की संभावना से महापण्डित राहुल सांकृत्यायन तथा डा० शि० प्र० डबराल ने 'भोट' के लिए 'भोटान्त' और 'भोटियों'के लिए 'भोटान्तिक' शब्दों का प्रयोग किया है, अर्थात् जहां 'भोट' (तिब्बत) की सीमा का अन्त होता है, वहां से दक्षिण के महाहिमालय का भारतीय प्रदेश तथा वहां के निवासी। इन शब्दों के प्रयोग के बाद विदेशी लेखकों तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य सभी लेखकों१६ द्वारा प्रयुक्त 'भोट' 'भोटिया' शब्दों के व्यवहार पर आपत्ति उठाया जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन अभारतीय नामों का व्यवहार पूर्णतया भारतीय प्रदेशों के लिए क्यों होने लगा? इसका उत्तर देने के लिए हमें इतिहास के पिछले युगों की ओर दृष्टिपात करते हुए यह खोजना पड़ेगा कि इन शब्दों का प्रयोग हमारे देश के इतिहास तथा साहित्य में कब से होने लगा है। यह तो सभी जानते हैं कि भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से नाममात्र को ही लिखा गया है। इसका अधिकांश रूप हमें साहित्यिकता के आवरण को हटा कर ही निकालना पड़ा है। इसी प्रकार जो भी साहित्यिक साक्ष्य हमें मिले हैं, उनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'भोट' शब्द का प्रयोग महाहिमालय प्रदेश के लिए कभी नहीं हुआ था,१७ वरन् इस महाहिमालय प्रदेश के निवासियों को दसवीं शताब्दी के काशी के किसी कवि ने 'भोटान्त' नाम से सम्बोधित किया है।१८ सम्भवतः राहुल जी को इस भारतीय भूखण्ड के निवासियों के लिए 'भोटान्तिक' शब्द के प्रयोग की प्रेरणा इसीसे मिली हो। इससे ज्ञात होता है कि

---

१४. पूज्यपाद स्वामी प्रणवानन्द, कैलास मानसरोवर—पृ० ९९।

१५. डा० एस० डी० पन्त, सोसिओ इकोनामी आव् हिमालयाज़, पृ० ३५।

१६ महापण्डित राहुल, कुमाऊं, पृष्ठ—१३२ से १४८ तक तथा डा० शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक, पृष्ठ १।

१७. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ५८।

१८. महापंडित राहुल, पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १६६।

सुदूर अतीत में भी हमारे पूर्व पुरुष 'भोट' (तिब्बत), और 'भोटान्त' (तिब्बत से बाहर का) के भौगोलिक अन्तर को भलीभाँति समझते थे। यही कारण है कि 'भोट' शब्द का प्रयोग भारतीय प्रदेश के लिए अंग्रेजों से पूर्व सम्भवतः किसी ने पहले-पहल कुमाऊं और गढ़वाल में किया होगा तो नेपाल के गोरखों ने। गोरखों का कुमाऊं में पहला आक्रमण सन् १७९१ ई० (१७१३ शकाब्द) में हुआ था। इसके बाद उन्होंने सन् १८१५ ई० तक कुमाऊं और गढ़वाल में शासन किया। गोरखे जब १७९१ ई० में कुमाऊं के शासक बने तो उन्होंने इन उत्तरीय अंचलों के निवासियों की मुखाकृति की तिब्बतियों से थोड़ी सी एकरूपता तथा उनके साथ व्यापार व खानपान के कारण इन्हें भी 'भोटिया' कहना प्रारम्भ किया होगा। क्योंकि गोरखे यहाँ के निवासियों की अपेक्षा तिब्बतियों से बहुत पहले से परिचित थे। अतएव अपने पूर्व परिचित नाम को इन लोगों के लिए व्यवहृत करने में उन्हें सुविधा हुई होगी तथा मेरा यह अभिमत है कि गोरखों से उत्तराधिकार में राज्य के साथ इन शब्दों का व्यवहार भी अंग्रेजों को मिला होगा। इन पंक्तियों के लेखक को कुमाऊ के मध्ययुगीन हिन्दू-राजाओं के सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के इस भूभाग से सम्बन्धित जो भूमि एवं राजस्व विषयक प्रामाणिक ऐतिहासिक विवरण (लम्बी बहीखातानुमा विवरण पुस्तिकाएं) प्राप्त हुए हैं, उनमें तिब्बत के तकलाकोट तक के स्थानों व वहाँ के निवासियों का उल्लेख हुआ है परन्तु 'भोट' और 'भोटिया' शब्द का कहीं भी व्यवहार न होना उन लेखकों के दावों को निराधार सिद्ध करता है, जो यह मानकर चले हैं कि कुमाऊं के लोग अपने भू-भाग के सीमावर्ती अचलों को 'भोट' कहते हैं।

उक्त सभी भूमि व राजस्व सम्बन्धी विवरणों में उन स्थानों तथा लोगों को उन्हीं नामों से अभिहित किया है जो आज भी उनके लिए पूर्ववत प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। कुमाऊ के जोहार परगने (गोरी नदी की उपत्यका) के निवासी 'ज्वारी' तथा पिठौरागढ़ की काली और धौली उपत्यका के निवासियों को 'दारमा' परगने के अन्तर्गत रहने के कारण 'दरमिया' लिखा गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न गाँवों के लोगों के लिए उनके अन्य प्रचलित नामों से उक्त ऐतिहासिक भूमि सम्बन्धी विवरणों में उल्लेख हुआ है। सामूहिक रूप से उन दोनों उपत्यकाओं के रहने वालों को 'शौका', 'शउका' कहा गया है। आज भी इन लोगों को इन्हीं परम्परागत नामों से कुमाऊं के सामान्य जन जानते हैं। कुमाऊ के मध्ययुगीन हिन्दू-राजाओं के विवरणों को पढ़ने से भलीभाँति ज्ञात होता है कि उनके शासनकाल मे गिरिद्वारों में बसे हुए इन साहसी लोगों को राजाओं ने 'बूढ़ा' (सामन्त या सरदार) का सम्मानित पद दिया था। यहाँ राजा बाजबहादुर चन्द्र (१६३८ से १६७८) एवं

उसके उत्तराधिकारियों ने इनके पूर्वजों को इस पर्वतीय भू भाग में तथा इसके बाहर तिब्बत में अनेक स्थानों पर 'रौतें' (जागीरें) पुरस्कार-स्वरूप प्रदान की थी। 'बूढ़ा' और 'सयाना' का पद कुमाऊ और गढ़वाल में बड़े सम्मान और प्रतिष्ठा का पद था। गढ़वाल के नीति और माणा गिरिद्वारों के निवासी लोग आज भी अपने नाम के साथ 'सयाना' (बड़ा या सरदार) जोड़ते हुए गौरव का अनुभव करते हैं। उत्तरकाशी में जाडगंगा और भागीरथी की घाटी के निवासी जहाँ का मुख्य गिरिद्वार नेलग है, अपने स्थानीय नाम 'जाड' से प्रसिद्ध हैं तथा चमोली के माणा गिरिद्वार के पदतल में विष्णुगंगा घाटी के निवासी 'मारछा' एवं नीति गिरिद्वार के पदतल में धौलीगंगा घाटी के निवासी 'तोलछा' नाम से गढ़वाली प्रदेश में प्रसिद्ध हैं। कुमाऊं-गढ़वाल में भारतीय भू-भाग से सटा हुआ तिब्बत का 'ङ री-कोरसुम' (कैलास-मानसरोवर प्रदेश) 'हुणदेश' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि गढ़वाल-कुमाऊ के लोग भोट और भोटिया नामों से परम्परा-गत रूप से कभी भी परिचित नहीं रहे हैं। कैलास-मानसरोवर प्रदेश के बाहर के तिब्बती प्रदेश के लिए सम्भवत इन शब्दों की प्राचीनकाल में प्रसिद्धि रही हो जिससे इन शब्दों का पिछले ऐतिहासिक युगों में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण है।

भोट या भोटिया शब्दों का सम्बन्ध पूर्णतया अभारतीय प्रदेश और अभारतीय जाति के लिए इतिहास और परम्परासम्मत होने के कारण उनका त्याग कर देना ही उचित है। जिन जातियों को भोटिया नाम से पिछली भूलों के कारण लिखा गया है, उन्होंने इस नाम से अपने को पुकारा जाना कभी पसंद नहीं किया। आज भी वे इस नाम को भीतरी मन से स्वीकार नहीं कर सके हैं। वे तो अपने को पुराने परम्परागत नामों से ही पुकारे जाने में गौरव का अनुभव करते हैं जो इतिहास और मानव-शास्त्र दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा युक्तिसंगत है। आधुनिक युग में विदेशी और भारतीय लेखकों द्वारा 'भोटिया' नाम से पुकारी जाने वाली ये सभी सवर्ण और अर्द्ध-सवर्ण जातियां अत्यन्त प्राचीन काल से हिमालय में निवास करने वाली महाजाति के ही अवशेष हैं। कुछ लोगों ने इन्हें, इनमें कुछ पर मंगोल मुखाकृति से कुछ साम्य देखकर 'भोटों' का अलग प्रतीक' कहा है, जो ठीक नहीं है। डा० शिवप्रसाद डबराल तथा तथा अन्य लेखकों ने हमारे पुराणकालीन प्राचीन तंगणों, परतगणों, और ज्योहा आदि[१९] हिमालय की प्राचीनतम व्यापारी जातियों से इनका सम्बन्ध जोड़ा है जो वास्तव में पर्याप्त संगत लगता है। पुराणों में उल्लिखित तंगण और परतंगणों को महान् किरात-जाति की ही शाखायें

१९, डा० शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक, पृष्ठ २७।

माना गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने विस्तृत विवेचन के आधार पर लिखा है कि, "उनका आकार मध्यम, बदन गठोला, रंग पीला, गालों की अस्थियां उमरी हुई, बाल खड़े तथा पिंडलियां सुन्दर और सुदृढ़ होती हैं। उनकी मूछें विरल और दाढ़ी नाममात्र को होती है। वे प्राचीन किरात जाति (मौन ख्मेर) के अवशेष हैं।"२० इस प्रकार की विशेष मानव प्रजाति केवल तथाकथित भोट में ही नहीं है वरन् हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, कुमाऊं, नेपाल के उन क्षेत्रों के बीच-बीच में भी जहां आर्य या खस रक्त अधिकता से है, उन्हीं के समान मुखाकृति और शारीरिक गठन वाली अनेक सवर्ण और अर्द्ध-सवर्ण जातियां के बड़े बड़े गांव मीलों तक बसे हुए हैं। जैसे कुमाऊं के पिठौरागढ़ जिले के मध्यवर्ती भाग के पश्चिमी क्षेत्र में बोराकार्की (जो इस समय पत्थर की चक्कियों और भांग के रेशे के कपड़े, थैले आदि बनाने का काम करते हैं), इसी जिले के मध्यवर्ती भाग के पूर्वी अंचल में 'बनराजी' या 'बनरावत' के नाम से प्रसिद्ध जाति की भी इनसे अभिन्नता प्रतीत होती है।२१ अल्मोड़ा जिले के चम्पावत तहसील के टनकपुर से सटे हुए क्षेत्र के 'लूलान' या 'लूलकण्ठी' के अधिकांश लोग तथा इसी जिले की भावर से सटी हुई पहाड़ी पट्टियों के 'सौन' आगरी' व पश्चिमी नेपाल के कुमाऊं के पूर्वी सीमान्त के कुछ भागों के 'लूल बौरा' लोग भी उक्त किरात जाति के ही अवशेष हैं। यही नहीं, कुमाऊं गढ़वाल के तराई भावर में निवास करने वाले थारुओं और बुक्साओं को भी इसी प्रजाति के अन्तर्गत माना गया है। इस सब से यह सिद्ध होता है कि यह प्रजाति जिसे लोगो ने भूलवशात् भोटों का अलग प्रतीक कहा है, वास्तव में पूर्णतया भारतीय मूल की ही महाजाति है, जिसका कभी हिमाचल प्रदेश के कन्नौर से लेकर आसाम तक के संपूर्ण हिमालय के पर्वतीय तथा भाबरी क्षेत्रों पर पूर्ण आधिपत्य रहा था।२२ संक्षेप में संपूर्ण हिमालय में सर्वत्र विभिन्न नामों से इस महाजाति के अवशेष अब भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस महाजाति के कितने ही महत्वपूर्ण अंश आर्य अथवा खस जातियों के अंतर्गत विलीन हो चुके हैं, जिसको प्रत्यक्ष रूप में हिमालय में निवास करने वाले सभी तथाकथित छोटे बड़े वर्गों और जातियों में बड़ी सरलता से देखा जा सकता है।

ऊपर के तर्कों के आधार पर हमें स्वामी प्रणवानन्द का इस प्रजाति के सम्बन्ध में कुछ

---

२०. राहुल, गढ़वाल, पृष्ठ ४२।

२१. राहुल, कुमाऊं, पृष्ठ २०।

२२. डा० शिवप्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक, पृष्ठ २१-२२

मानवशास्त्रियों से मत-वैभिन्य होना स्वाभाविक लगता है। केवल कुछ थोड़े से बाहरी लक्षणों के आधार पर उनको तिब्बती मूल का मानने वालों की धारणा का खण्डन करते हुए स्वामी जी का यह कथन पूर्णतया युक्तिसंगत है कि "स्वरूप के विषय में भी नैपाली गोरखे तिब्बतियों से एकदम मिलते-जुलते हैं। इनमें से एक तो नैपाल के बौद्ध मन्दिरों में दर्शन के लिए जाते हैं फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि नेपाली भी तिब्बती हैं।"२३ मानवशास्त्रियों व अन्य सभी विद्वानों को जो हिमालय के इस सीमान्त पर रहने वाले लोगों को नस्ल या प्रजाति की दृष्टि से तिब्बतियों के निकट समझ बैठे हैं, उन्हें अपने अध्ययन को अधिक गम्भीर बनाने के लिए हिमालय पर निवास करने वाली सभी प्राचीन जातियों के वंशधरों को साथ मिलाकर चलना होगा। अभी इस बात की छानबीन भी बाकी है कि तिब्बत के कैलास-मानसरोवर (ङ-री कोरसुम) प्रदेश में निवास करने वाली एक विशेष प्रजाति जो तिब्बत में 'डोक-पा' कहलाती है, विशुद्ध रूप से तिब्बती न होकर भोट और किरात जाति के सम्मिश्रण से तो नहीं बनी हुई है?

इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट है कि महाहिमालय में निवास करने वाली जातियों का तिब्बतियों अर्थात् वास्तविक भोटियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात दूसरी है कि "तिब्बत की सीमा के पास के निवासी होने तथा छ छ महीने व्यापार के लिए तिब्बतियों के साथ रहने के कारण इनकी भाषा में तिब्बती शब्दों के समावेश होने एव इनकी वेशभूषा में कुछ समानता होने में कोई आश्चर्य नहीं" (स्वामी प्रणवानन्द)।२४ इसमें सन्देह नहीं कि जब इन लोगों का सीधा व्यापार तिब्बत और तिब्बत के निकटस्थ प्रदेशों से चला करता था, तब इनमें ठण्डे प्रदेश के अनुकूल वेष-भूषा, खान-पान आदि विषयों में समानता हो गई परन्तु वे रहे सदैव हिन्दू मतावलम्बी ही। निचले पहाड़ी भाग के उन्हीं के बन्धुओं ने इसी तिब्बती संपर्क के कारण उन्हें अपने से पृथक् समझना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रसंग में पण्डित महेश्वर दत्त गैरौला२५ का यह कथन महत्वपूर्ण है कि "समस्या थी रोटी और जातिवाद में संघर्ष की। व्यापार नहीं करते तो खाते क्या? क्योंकि महाहिमालय का यह भाग खेती के सर्वथा अनुपयुक्त था। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने दृढ़तापूर्वक व्यापार

---

२३. राहुल, कुमाऊं, पृ० १३७ (स्वामी जी के हिन्दी कैलास-मानसरोवर से उद्धृत)।

२४. राहुल, कुमाऊं, पृष्ठ १३७ (. ....वही .)।

२५. पंडित महेश्वरदत्त गैरोला, आदिमजाति सेवक संघ, सर्वेक्षण-रिपोर्ट, १९५६-५८, अशोक आश्रम, कालसी, देहरादून।

अपनाया। हिन्दुओं की जातिपांति उन्हें भोजन नहीं दे सकती थी। उन्हें अपना पेट पालना था, वह तिब्बत में व्यापार से ही सम्भव था। नीचे के पहाड़ियों ने उनपर चंवर गाय खाने का आरोप लगाकर उन्हें धर्मभ्रष्ट कहना प्रारम्भ किया। परन्तु तिब्बती लोग चंवर पशु को गाय नहीं मानते हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार गाय की परिभाषा इस प्रकार है — 'सास्नावती गौ' अर्थात जिसके गलकम्बल हो वही गाय है। चवर के गल-कम्बल नहीं होती। अतः वह गाय की परिभाषा में आने वाला पशु नहीं है। फिर भी चवर पशु खाने से उनका बहिष्कार होने लगा। तिब्बत में स्त्रियां स्वच्छन्द हैं और तिब्बत के इस पार पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के कारण तिब्बती स्त्री और भारतीय पुरुषों में कभी-कभी अन्तरजातीय विवाह भी सम्भव हो जाया करते थे। कदाचित् उनके एक आध संस्कार व देवी देवताओं को भी इन्होंने अपना लिया। इतना होने पर भी गढ़वाल के मारछा, तोलछा, लोग भोटिया कहे जाने पर अपना अपमान समझते हैं। वे इस सम्बोधन को कतई पसन्द नहीं करते क्योंकि वे भोटिया नहीं हैं। लेकिन अज्ञानतावश किसी ने उन्हें भोटिया कहा तो उन्होंने आपत्ति की है।"

प० महेश्वरदत्त गैरोला ने हिमालय की जातियों का सर्वेक्षण करके जो निष्कर्ष निकाला है उसकी पुष्टि भारत के महान भौगोलिक अन्वेषक पं० नैनसिंह की स्वहस्तलिखित पुस्तक के इन अंशों से भी होती है, "भोटियों की किताबों में लिखा है कि पहिले जमाने में सारा 'ङ री कोरसुम' का राजा विसन् चिन् ग्यालबो था।"२६ स्मरण रहे कि आज के प्रचलित शब्द व्यवहार के अनुसार पं० नैनसिंह भी भोटिया ठहरते हैं। परन्तु उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे अपने को भोटिया नहीं मानते थे। अपनी तिब्बत यात्रा-काल में 'चेमी रोंग रुदोक' के अपने व्यापारी आढ़तियों (तिब्बतियों) ने जब उन्हें गुप्त वेश में भी पहिचान लिया तो उन्होंने अपने आढ़तियों को समझाया कि, "खबरदार, तुम किसी से मत कहो कि ये लोग (पंडित जी आदि) क्योनम यानी जोहारी हैं।"२७ तिब्बती लोग पिथौरागढ़ के जोहार परगने को 'क्योनम' और जोहारियों को 'क्योनवा' कहा करते हैं। तिब्बत वाले इधर के निवासियों को सामूहिक रूप से 'मौन' या 'मौनपा' नाम से सम्बोधित करते हैं, न कि भोटिया नाम से। कहने का तात्पर्य यह कि योरोपीय लेखकों ने भारत के महाहिमालय प्रदेश को

---

२६. प० नैनसिंह, सी० आइ० ई० हिमालय तथा तिब्बत के अज्ञात प्रदेशों के भौगोलिक अन्वेषक, (पं० 'ए' के नाम से विश्वभूगोल में विख्यात) स्वहस्तलिखित विवरण पुस्तिका, लेखक के संग्रह में, पृ० १२, सन् १८६८ ई०।

२७. पं० नैनसिंह, ...वही. .. ....।

भोट लिखने की ऐतिहासिक भूल भले ही की हो परन्तु भारत के इस भाग के तथा भारत से बाहर पड़ोसी तिब्बत के किसी भी सामान्य या विशिष्ट जन ने ऐसी भूल नहीं की है।

अब थोड़ा सा उन परम्परागत नामों की चर्चा भी आवश्यक है, जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। उत्तरकाशी जिले के जाड और चमोली जिले के उच्च हिमालय के सीमान्त की उपरली जोतों के निवासी 'मारछा' और वहीं की निचली जोतों के लोग 'तोलछा' कहे जाते हैं, हम यह लिख चुके हैं। उत्तरकाशी के जाड लोग मूलत वर्तमान स्थान के निवासी न होकर कुछ समय पूर्व हिमाचल-प्रदेश के बुशहर जिले से आकर बसे हैं।२८ अतएव यहां पर 'मारछा-तोलछा' लोगों के सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक है। मारछा जाति का नामकरण इसलिए हुआ बताया जाता है कि ये लोग तिब्बत में चंवर पशु के घी और तिब्बती नमक का व्यापार किया करते थे। तिब्बत में 'मर' का अर्थ घी और 'छा' का अर्थ नमक हुआ करता है। इन दो शब्दों के मिल जाने से 'मरछा' या 'मारछा' शब्द बना। मारछा लोग महाहिमालय की ऊपरी जोनों के निवासी होने के कारण तिब्बत से सीधा व्यापार करते तथा उसे अपनी निचली घाटियो के 'तोलछा' लोगों में बेचा करते थे। तोलछा शब्द की व्युत्पत्ति भी 'तोल और 'छा' शब्दों के यौगिक रूप से बनायी जाती है अर्थात नमक को तौलने वाले या बेचने वाले लोग। तोलछा लोग नमक को अपने से नीचे की पट्टियों में ले जाकर बेचने के कारण तोलछा कहलाए। प० महेश्वरदत्त गैरोला२९ तथा अधिकांश मारछा-तोलछा लोग इन शब्दों की निरुक्ति भिन्न प्रकार से करते हैं। उनका कथन है कि 'मलो' (ऊपर) छा' (ओर) रहने से 'मारछा' और 'तली' (निचली) 'छा' (ओर) के निवासी होने से इन्हें 'तोलछा' कहा गया। गढ़वाली और कुमाऊंनी बोलियों में ऊपर के या ऊंचे स्थानों को मल, मली या मल्ली तथा निचले या नीचे के स्थानों के लिए तल, तली या तल्ली शब्दों का प्रयाग होना है। इसी प्रकार ओर, दिशा, पंक्ति, पट्टो अथवा सिलसिले को अभिव्यक्त करने के लिए छा, छयौ शब्द व्यवहृत होता है। प० गैरोला और मारछों-तोल्छों का इसी आधार पर कहना है कि जो मली या मल्ली छा, छ्यौ में बसे, वे मारछा और तलो छा या छयौ में बसे वे ही तोलछा हैं। स्मरण रहे कि ल, ड़ आदि लुठित ध्वनियों का उच्चारण प्राय सुविधानुसार 'र' ध्वनि में परिवर्तित हो जाया करता है, 'रलयोरभेद'—व्याकरण का प्रसिद्ध नियम है। 'माल्लि छ्यौ'

---

२८. डा० शि० प्र० डबराल, उत्तराखण्ड के भोटान्तिक, पृष्ठ ५७।

२९. पं० महेश्वरदत्त गैरोला, वही।

(ऊपर की ओर), तालि छ्यौ (नीचे की ओर) कुमाऊंनी व्यापक रूप से प्रचलित शब्द हैं। यह कोई असंभव नहीं है कि यदि इन्हीं बहुप्रचलित शब्दों से ही लोगों ने अपनी भौगोलिक वासभूमियों को सूचित करने के लिए ही इन शब्दों को अपनाया हो। मारछों को गढ़वाल में उबदेशी (ऊपर के देश या भूभाग का रहने वाला) और नीचे की पट्टियों में रहने वाले लोगों को उददेशी (नीचे का निवासी) भी कहा जाता है।३० कुमाऊं के लोकगीत और लोकगाथाओं में इस सीमांत भाग को 'मलदेश' (ऊपर का देश) कहा गया है। अतएव मारछा तोलछा सम्बन्धी उल्लिखित लोकव्युत्पत्ति मात्र न हो कर ऐतिहासिक सत्य हो हो तो आश्चर्य नहीं। पिठौरागढ़ जिले के जोहार और मुनस्यारी के लोग जोहार परगने के निवासी होने के कारण इसी नाम से पुकारे जाते हैं। इसके अतिरिक्त दारमा और काली नदी की घाटी के लोग अपनी-अपनी पट्टियों दारमा,३१ चौदांस, व्यांस आदि के नाम पर दरमियां, चौदांसी और व्यांसी कहे जाते हैं। चौदांस के लोग अपना सम्बन्ध चतुर्दंष्ट्र महादेव और व्यांस के लोग महामुनि व्यास से जोड़ते हैं।

इस सम्पूर्ण क्षेत्र को भोट और यहां के निवासियों को भोटिया लिखते हुए कुछ विचारशील भारतीय लेखकों को शंका समाधान करना पड़ा और कुछ ने इन शब्दों को छोड़ कर भोटान्त और भोटान्तिक शब्दों को अपनाया है। हम लिख चुके हैं कि ये दोनों शब्द भी अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हैं। अर्थात् इनमें स्पष्ट दिशानिर्देश न होने के कारण इन्हें वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भोट (तिब्बत) की किस दिशाविशेष के भूभाग का नाम भोटान्त है, यह बता सकने की सामर्थ्य इस शब्द में नहीं है। इससे यही उचित है कि या तो इन स्थानों के निवासियों को उनके परपरागत नामों से पुकारा जाय, जिसे वे अपने लिए अधिक गौरवास्पद समझते हैं अथवा उनको सामूहिक रूप से उत्तरी गढ़वाली और उत्तरी कुमैयृया कहा जाय। प० बद्रीदत्त पाण्डे ने भी यह स्वीकार किया है कि 'जोहारी लोग अपने को भोटिया नहीं कहते यद्यपि कुमैय्ये इनको भोटिया कहते हैं।'३२ हम देख चुके हैं कि इस प्रकार के कथन सब सारहीन हैं। अपनी बात को सत्य सिद्ध करने के लिए इसे लोगों पर थोप दिया गया है। वास्तव में कुमैयें (कुमाऊनी) और उनका इतिहास व परम्पराएं उन्हें कुमाऊं के भीतर ही 'शउका' या 'शौका' नाम से पुकारते

---

३०. विशेष देखिए डा० शि० प्र० डबराल, उत्तराखंड के भोटांतिक, पृष्ठ ९६तथा पृष्ठ १२९।

३१. चौदांस (निम्न काली), व्यांस (काली), दारमा (धौली उपत्यका)।

३२. प० बदरीदत्त पाण्डे, कुमाऊं का इतिहास, पृष्ठ ६३५।

जा रहे हैं। कुमाऊं के राजा रुद्रचंद्र (सन् १५६८-१५९७) की मृत्यु के ठीक तीन वर्ष पश्चात् कुमाऊं के इस भू-भाग के जो भूमि व राजस्व सम्बन्धी विवरण३३ उस समय के राजकर्मचारियों ने तैयार किए थे, उनमें इन लोगों को साधारणतया 'शउका' तथा 'शौका' एव राजसम्मान प्राप्त 'बूढ़ा' (सरदार या सामन्त) पदवी के साथ लिखा गया है।

उक्त 'शौका' शब्द को अधिकांश लेखकों ने इतिहास प्रसिद्ध शक जाति से जोड़ा है। शक और शौका में थोड़े से ध्वनि साम्य तथा उनके पड़ोसी तिब्बती प्रदेश को परम्परा से 'हुण देश' कहे जाने के कारण 'शौका' और शकों में सम्बन्ध जोड़ने का यह प्रयत्न हुआ है, जो वास्तव में पूर्णतया भ्रांत है। हम पीछे लिख चुके हैं कि इस महाजाति का पृथक् अस्तित्व किरात मूलक प्रजाति के अतगत ही सिद्ध होता है जो इन्हें अपने पड़ोसी हिमालय के निचले भू-भागों में बहुलता से विद्यमान खस रक्त से अलग करता है। निम्न हिमालय में अवस्थित खश जातियों के इतिहास का विवेचन करते हुए विद्वानों ने उन्हें शक जाति से जोड़ा है। उनका कहना है कि शक और खश एक ही महाजाति की दो भिन्न लहरे हैं३४ तथा शक शब्द ही वर्ण-विपर्यय के सिद्धान्त के आधार पर खश या खस हो गया है। इसका यह भी प्रमाण है कि महाहिमालय के निचले स्थानों में सर्वत्र सूर्य एव स्थानीय देवताओं में यथा गोरिल, ऐड़ी आदि की शक प्रभावापन्न प्रतिमायें प्राप्त होती हैं, जिनका इस समय शौकाओं की भूमि में बिलकुल अभाव है। ये प्रतिमाएं स्वत. बतलाती हैं कि शकों या खशों का यही हिमालय का मध्यवर्ती भू-भाग महत्व का स्थान था। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि शौका और शक शब्द का कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है तथा न ही शौका और शक में एक ही भाव है।

कुमाऊं-गढ़वाल के लोगों द्वारा हिमालय की ऊंची जोनों के निवासियों के लिए प्रयुक्त 'शौका' या 'शउका' शब्द साहूकार या साहू से निष्पन्न माना जा सकता है क्योंकि इन लोगों का व्यापार और साहूकारी या साहूगीरो से ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि पार्वत्य जातियों में एकमात्र यही प्राचीन व्यापारिक जाति है। ये परम्परागत साहूकार (सं० साधु कार) हैं। उनकी जाति का यह नामकरण उनके व्यवसाय के कारण ही हुआ होगा। कुमाऊं में साहूकार का उच्चारण शौकार, शउकार या शौ है। इस प्रकार शौ या साहूकार 'का' (पुत्र) 'शौ-का' हो सकता है। कालान्तर में लोगों के द्वारा इसके मूल अर्थ को भूल जाना स्वाभाविक ही है। बहुत प्राचीन काल में जब शकों या

३३. लेखक के पास हैं।

३४. राहुल, कुमाऊं, पृष्ठ ३२, शक मूलत: खशों के ही वंश के थे।

खशों का किरातों से परिचय हुआ होगा तो उन्होंने कभी भी अपनी प्रजाति से भिन्न प्रजाति को अपने नाम से पुकारने की भूल नहीं की होगी। अतएव उस समय जो इनका नामकरण किया गया होगा, उनकी जातीय प्रवृत्ति के आधार पर ही हुआ होगा, जिसका बदला हुआ रूप 'शौका' या 'सउका' लोक व्यवहार में जीवित है।

निष्कर्ष यह है कि अपने ही स्वदेशी बन्धुओं और अपने ही रक्त मांस के बने हुओं को एक पूर्णतया विदेशी प्रजाति के लिये प्रयुक्त होने वाला सम्बोधन देना किसी प्रकार तर्क-संगत नहीं है। हमारा तो दावा यहाँ तक है कि कभी सम्पूर्ण 'ङ री-कोरसुम' (कैलास मानस-प्रदेश) भारतीय प्रदेश ही था। क्योंकि इस प्रदेश में तिब्बती प्रसार ईसा की सातवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। जब कि इस भू-भाग में किरातों का अस्तित्व हजारों वर्ष पुराना है। यही कारण है कि समय-समय पर कुमाऊं गढ़वाल के राजाओं ने अपने राज्यों का एकीकरण करते हुये कैलास-मानसरोवर प्रदेश को अपने आधीन करने के सफल प्रयास किये।३५ यही स्थिति आगे भी बराबर चलती रही। इतिहास तो 'भोट', 'भोटिया' विषयक भ्रांति को रंचमात्र भी अवलम्ब देने को तैयार नहीं है। भूतकाल की विवशता अब नहीं रह गई। इसके बाद एक भ्रम और बाकी रह जाता है, कुछ लोगों का तर्क है कि इस प्रान्त में कुछ परिवार तिब्बत से भाग कर पिछले ऐतिहासिक युगों में बस गये, अतएव इसे 'भोट' कहने में क्यों आपत्ति की जाय। इसके प्रत्युत्तर में हमारा तर्क है कि बम्बई या गुजरात में शताब्दियों पूर्व कई पारसी परिवारों ने शरण ली जो आज पर्याप्त अच्छी स्थिति में हैं, फिर भी हम उसे 'फारस' नहीं कह सकते। इसी प्रकार कुछ परिवारों, कुछ विवाह सम्बधों और रक्त सम्मिश्रण के आंशिक स्वरूप के आधार पर भी इस भारतीय भू भाग को 'भोट' या 'भोटिया' कहना अत्यन्त आपत्ति-जनक है। अतएव इस समस्त भू भाग को हिमालय का उत्तरी सीमान्त उत्तर-कुमाऊँ व उत्तर-गढ़वाल ऐसे स्वदेशी नामों से या पीछे जिनकी चर्चा की जा चुकी है, उन्हीं से सम्बोधित किया जाय।

---

३५. कुमाऊं के मध्यकालीन राजा बहादुर का सन् १६७० ई० का आक्रमण, गढ़वाल के मानशाह व डोगरा सेनापति जोरावर सिंह का आक्रमण, (सन १८४१)।

'गीत फरोश' के कवि भवानी प्रसाद मिश्र

कान्ति कुमार

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य के जिन कवियों ने अपनी मौलिकता, प्रखरता एवं सहजता के कारण हिन्दी के विद्वानों एवं सामान्य पाठकों—दोनों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है उनमें कविवर भवानी प्रसाद मिश्र का नाम सहज ही महत्वपूर्ण है। मिश्र जी 'दूसरा सप्तक' के अन्यतम कवि हैं किन्तु इससे यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिये कि यदि वे 'दूसरा सप्तक' में परिगणित न होते तो उनका महत्व कुछ कम होता अथवा उनकी ओर लोगों का ध्यान कम गया होता। प्रयोगवादी माने जाने वाले कवियों में मिश्र जी ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जो बौद्धिक समाज में भी उसी प्रकार समादृत हैं जिस प्रकार लोक के बीच। मिश्र जी का काव्य अपनी जिजीविषा, सामाजिकता, उदात्तता एवं युगबोध के कारण जहाँ नेताओं, अध्यापकों, समाज सुधारकों एवं मानवता-प्रेमियों के बीच चर्चा का विषय रहा है वहीं अपनी प्रखर अनुभूति, बेलाग ईमानदारी, अभिव्यक्ति की सहजता एवं दैनन्दिन समस्याओं के प्रकटीकरण के कारण राह चलते आदमी का भी मन बाँधने में असाधारण रूप से सफल हुआ है। इसका कारण यही है कि मिश्र जी किसी वाद के कवि नहीं हैं, वे जीवन के कवि हैं। वे हमारी चिर परिचित धरती की बातें करते हैं। मिश्र जी के व्यक्तित्व फलतः उनके काव्य की यह साधारणता ही उन्हें असाधारण बनाती है। असाधारणता साधारण होने के कारण ही मिश्र जी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कवियों के बीच साधारणतया असाधारण सम्मान एवं स्नेह के अधिकारी बन सके हैं। हम सहज ही मिश्र जी को हिन्दी साहित्य के लोक-जीवन-आग्रही कवियों की उस परम्परा से जोड़ सकते हैं जो अमीर खुसरो, कबीर, रहीम, मीरा, रसखान, नजीर अकबराबादी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों के रूप में अक्षुण्ण भाव से प्रवाहित रही है। इन सभी कवियों ने अपने काव्य का चिन्तन से बोझिल नहीं होने दिया है। इन कवियों ने अपने काव्य के विषय पोथियों से चुनने के स्थान पर जीवन से ग्रहण किये। फलतः लोक जीवन के प्रति असीम आस्था एवं मानव गरिमा के प्रति अखंड अनुराग के जो स्वर इनकी काव्य-वीणा से निःसृत हुए उनके कारण ये सभी कवि आज भी पंडितों की गोष्ठियों के साथ 'चतुरी चमारों' की मंडलियों में भी समान भाव से प्रिय एवं प्रेरणाप्रद बने हुए हैं। पंडित भवानी प्रसाद मिश्र को काव्य रसिकों के अभिजात वर्ग का सम्मान एवं सामान्य सहृदय लोकजन का स्नेह भरपूर मिला है।

पत्र-पत्रिकाओं एवं कवि सम्मेलनों के माध्यम से मिश्र जी १९३९-४० के लगभग ही चर्चा के विषय बन गये थे और उन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो चुकी थी यद्यपि उनकी

एकमात्र पुस्तक 'गीत फरोश' का प्रकाशन में अत्यंत विलंब हुआ इस अनावश्यक एवं अवांछित विलम्ब का एक कारण तो यह था कि वे अत्यन्त प्रकाशन-सकोची, विज्ञापद भीरु एवं फक्कड़ तबियत के हैं। कविता लिखना उनके लिये किसी बाह्य प्रेरणा का फल अथवा किसी इतर प्रयोजन का परिणाम नहीं है। उन्होंने अपने काव्य का प्रणयन न तो यश के लिये किया, न व्यवहार के लिये और उस अर्थ में न ही शिव की रक्षा के लिये जिस अर्थ में अनेक समाज सुधारक कवि करते हैं। कविता 'लिखना' उनके लिये महत्वपूर्ण कभी नहीं रहा। "महत्व तो मैं लिखने मात्र का नहीं मानता। वह गौण चीज जानमान है। मुख्य तो वह विचार या काम है जिसके लिये लिखा जाता है। यह विचार या काम लिखने की अपेक्षा रखे तो लिखना आवश्यक हो जाता है" (कवि का २६-११-१९६५ का लिखा पत्र) यही कारण है कि कविता लिखकर वे न तो उसका प्रकाशन ही आवश्यक मानते हैं और न संकलन ही। प्रकाशन में इस विलम्ब का एक अन्य कारण यह भी माना जा सकता है कि जिस प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि अनेक यश' जीवी कवि साहित्य से अधिक महत्व अन्य अनेक जीवन्त कार्यों को देते रहे उसी प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र के जीवन का प्राथमिक उद्देश्य काव्य प्रणयन नहीं था। जिस प्रकार मध्यप्रदेश के उपयुक्त दोनों कवि प्रतिष्ठित पहले हुये और प्रकाशित बाद में उसी प्रकार भवानी प्रसाद मिश्र भी प्रकाशित होने से पूर्व भली भांति प्रतिष्ठित हो चुके थे। किन्तु इस स्थिति से कवि का बहुत अहित भले हो न हुआ हो पर हिन्दी काव्य का अहित तो निश्चय ही हुआ है। क्योंकि लेखन और प्रकाशन के इस अंतराल के फलस्वरूप आधुनिक काव्य को भवानी प्रसाद मिश्र के निश्चित दाय का सापेक्षिक लेखा जोखा नहीं लगाया जा सका और इतिहास की विस्तृत भूमिका के सन्दर्भ में उनके वास्तविक महत्व का निर्णय अभी तक नहीं हो पाया। मिश्रजी के काव्य पर नयी कविता की अधिकांश बटुकतोषिणी टीकाओं में दो चार चालू किस्म की पंक्तियां भले ही मिल जायें पर उनके सम्पूर्ण काव्य पर समग्रता से विचार करने की आवश्यकता अभी तक किसी ने अनुभव नहीं की।

जैसा कि कहा चुका है 'गीत फरोश' मिश्र जी का एकमात्र प्रकाशित ग्रंथ है और इसमें कवि की १९३० से १९४५ तक की कवि द्वारा संकलित रचनायें हैं—१९४७ की एक कविता 'गीत फरोश' और १९५३ की एक कविता (जो प्रस्तुत संकलन की भूमिका स्वरूप है 'शब्दों के महल') को छोड़कर। इस प्रकार कवि द्वारा इसी अवधि में लिखित अनेकों और प्रकाशित सैकड़ों कविताओं में से केवल ६०, ६५ ही 'गीत फरोश' में संकलित हुई हैं। यह कहा जा सकता है कि ये कवितायें कवि के इस काल की प्रतिनिधि रचनायें हैं और उसकी

रुचि, विश्वास, चिन्तन एवं विकास दिशा की पूर्ण परिचायिका हैं। गीत फरोश की अधिकांश कवितायें प्रकृति की रूप-वर्णना से सम्बद्ध हैं। यह प्रकृति भी विन्ध्या, सतपुड़ा और रेवा की उमगपूर्ण उल्लसित प्रकृति है। कवि के ही शब्दों में 'गीत फरोश' में उसने 'सूरज, चाँद, फूल या लहरे, फागुन या बरसात सभी के, संध्या, विन्ध्या और हिमाचल रेवा पीपल पात सभी के 'गीत गाये हैं।

कवि का प्रारम्भिक जीवन नरसिंहपुर, सोहागपुर, होशगाबाद और बेतूल जैसे स्थानों में बीता है जो सभी रेवा और सतपुड़ा के उन्मुक्त प्यार के साक्षी हैं। मिश्र जी ने अपने काव्य में प्रकृति के उसी रूप का उल्लेख किया है जो प्रारम्भ से ही उनका सहचर रहा है। मिश्र जी के प्रकृति-काव्य की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि प्राचीन कवियों की भांति वे प्रकृति को मात्र उद्दीपन नहीं मानते और न ही द्विवेदी युगीन कवियों की भांति वे प्रकृति से किसी प्रकार का उपदेशपूर्ण निष्कर्ष ही निकालते। छायावादी कवियों ने प्रकृति पर चेतना का आरोप कर प्रकृति को किसी अज्ञात, अलौकिक, रहस्यसत्ता का स्पन्दन बना दिया है। इन सबसे भिन्न प्रकृति से मिश्र जी का ठीक वैसा ही संबंध है जैसा किसी बाल्यसखा से होता है। प्रकृति के विभिन्न उपादान कविके चिर परिचित सहचर हैं और वह उनकी विभिन्न गति विधियों एव रूपच्छटाओं से अत्यन्त अनौपचारिकता एवं आत्मीयता का संबंध मानता है तथा सभ्यता एव संस्कृति के सारे दुरावों, आवरणों आदि को भेद कर उनके मर्म को पकड़ लेता है। जो कवि सतपुड़ा के घने जगलों को अपना मित्र और आत्मीय मानता हो वही कह सकता है—

'धँसो इन में डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,
उतर कर बहते अनेकों,
कल कथा कहते अनेको,
नदी निर्झर और नाले,
इस वनों के गोद पाले,

•

हरित दूर्वा, रक्त किसलय,
पूत पावन, पूर्ण रसमय,
सतपुड़ा के घने जगल,
लताओं के घने जगल।

जिस प्रकार कालिदास को बसंत का, रवीन्द्रनाथ को सरिताओं का एवं निराला का बादलों का कवि कहा जाता है उसी प्रकार मिश्र जी को हम वर्षा का कवि कह सकते हैं। वर्षा के विभिन्न रूपों एवं मुद्राओं को लेकर जितनी कवितायें मिश्र जी ने लिखी हैं उतनी सम्भवतः हिन्दी के किसी अन्य कवि ने नहीं। वर्षा के प्रारम्भिक दिनों में आसमान से टपकी हुई एक बूंद कवि के मन को उसी तल्लीनता से अपने रसपाश में बांध लेती है जैसे सावन भादों में रात दिन बरसने वाला पानी। वर्षा 'कवि के निरन्तर पर्व' के रूप में उपस्थित होती है और वह 'कभी विद्युत से, कभी सुरचाप से, कभी केकी कठ कलाप से, कभी कृषक के आनन्दमय सगीत से' कवि को अपने रस से आप्लावित कर देती है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविता में बादल, बूंदे, बिजली, गरजन, आंधी, पानी की झड़ी की विभिन्न भंगिमाये सदैव उपस्थित रहती हैं। वर्षा को देखकर कवि के प्राण पागल हो उठते हैं और वह किलकते बादलों के दलों के साथ जोर से गा उठता है—

तू उठ के बैठ जा रे लिखने में क्या धरा है।
खिड़की से झांक तो ले कैसा हरा भरा है।
धरती पे सरग उतरा सा जान पड़ रहा है।
धारा से सरग धरती पर आन पड़ रहा है।

— — —

धरती भी आज जीने का गीत गा गई रे,
बरसात आ गई रे, बरसात आ गई रे।

सतपुड़ा और वर्षा की ही तरह कवि को रेवा भी अत्यन्त प्रिय है। 'नर्मदा के चित्र' नामक लम्बी कविता में कवि ने नर्मदा के घाटों, लहरों, कगारों, किलकिला पक्षियों, पत्थरों, मछलियों, नीले पानी पर पड़ने वाले चांद के प्रतिबिंब—गरज यह कि नर्मदा के सम्पूर्ण गत्यात्मक एव स्थिर व्यक्तित्व का चित्र अत्यन्त विस्तृत फलक पर अंकित किया है। यह लम्बी कविता हमें निराला जी की 'यमुना के प्रति' नामक कविता की याद दिलाती है। किन्तु 'यमुना के प्रति' का कवि यमुना के रूप के प्रति उतना आकृष्ट नहीं है जितना कि यमुना के माध्यम से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न सम्पर्कों (एसोशियेशन्स) और संचारी भावों के प्रति। भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में प्रकृति का जो सहज, नैसर्गिक, अनौपचारिक और स्वतन्त्र अंकन हुआ है वह हिन्दी के किसी अन्य कवि के काव्य में नहीं। भवानी प्रसाद मिश्र के

प्रकृति काव्य को पढ़ते हुए हमें यदाकदा नजीर अकबराबादी की याद हो जाती है। अनुभूति की ईमानदारी और अभिव्यक्ति की सहज मार्मिकता में ये दोनों कवि अत्यन्त निकट जान पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि इन दोनों कवियों ने प्रकृति को केवल दृष्टिपथ से ही नहीं बल्कि अनुभूति पथ से भी देखा एव दिखाया है। 'नर्मदा तट के खडहर, पीपल का झाड़, जंगल का टेसू, अमराई की कोकिल, सूने मैदान की टिटहरी, खेत की मेंड पर खजूर का पेड़ अथवा घर के खपरैल पर लौकी की बेल' पर कवि भवानी प्रसाद मिश्र कविता लिखने नहीं बैठते, बल्कि ये सब अत्यंत अनौपचारिकता से स्वयं उनकी कविता में आकर बैठ गये हैं—कुछ इस अंदाज से गोया यही उनकी जगह है।' (कला वलय, कानपुर से प्रकाशित 'सुकवि भवानी-प्रसाद मिश्र' नामक सोवेनीर में श्री मोहनलाल वाजपेयी का विन्ध्य, सतपुड़ा, रेवा का साथी' नामक निबन्ध)। भवानी प्रसाद मिश्र छायावादी कवियों की भांति प्रकृति के सुरम्य, कोमल, कमनीय रूप पर ही मुग्ध नहीं है। प्रकृति के प्रति भवानी प्रसाद मिश्र की दृष्टि 'अभिजात (एरिस्टोक्रेटिक अथवा सोफिस्टीकेटेड) न होकर परम प्रकृत है। इसलिये वे केवल उषा-नागरी, सन्ध्या सुन्दरी अथवा 'प्रथम रश्मि' के प्रति ही रागात्मक संबंध का अनुभव नहीं करते अपितु तंग शहर की इमारतों की किसी संधि से खजूर के पीछे से झांक उठने वाला दूज का चांद अथवा घर की बाड़ी में खिला हुआ तरोई का फूल भी उन्हें इस प्रकार प्रकृति के राज्य में पहुंचा देता है मानो वे काश्मीर की शोभा देख रहे हों। ऐसे सहज प्राकृतिक व्यक्ति की दुनिया में फुदकती हुई चिड़िया और ठुमकती हुई गिलहरी, आंगन का पीपल, टेढ़ी मेढ़ी रेखा, विन्ध्याचल की एक दूसरे पर चढ़ती सी चोटियां, अथवा सतपुड़ा के घने जगल सभी समान अधिकार प्राप्त किये हुये हैं। एक व्यापक विश्व प्रेम अथवा विश्व प्रेमी की यह भावना कवि में इसलिये जीवन्त रूप से वतमान है कि उसके 'प्राणों में एक सदृश श्रीशक्ति है।'—(श्री मोहन लाल वाजपेयी के २७ अक्टूबर, १९६५ को लिखित पत्र से)।

भवानी प्रसाद मिश्र ने अपने काव्य के ऊपर कालिदास, वर्डसवर्थ, शेली, ब्राउनिंग, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव स्वीकार किया है। ये समस्त कवि सौन्दर्य चेतना के कवि हैं। भवानी प्रसाद मिश्र के काव्य में सौन्दर्य चेतना कभी उनकी सात्विक रागात्मकता को आक्रांत नहीं करने पाती। जैसा कि कहा जा चुका है कि उनका मन प्रकृति के सभी रूपों में रमता है और वे प्रकृति के छोटे बड़े अनेक उपादानों पर सौ सौ जान से न्यौछावर होने को तत्पर दीखते हैं। भवानी प्रसाद के लिये वर्डसवर्थ की ही तरह

"देअर वाज ज्वाय इन द फ़ाउंटेन्स
देअर वाज़ ज्वाय इन द माउन्टेन्स।"

भवानी प्रसाद मिश्र ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उषा, सन्ध्या, विन्ध्या, सतपुड़ा, रेवा, सावन, भादों के स्वर में स्वर मिला कर गीत गाये हैं। उनके काव्य में प्रकृति के नखदन्तयुक्त रूप का भी चित्रण हुआ है किन्तु वह आतंकोत्पादक अथवा भयावह नहीं है। सतपुड़ा के अजगरों से भरे, 'शेरवाले, बाघवाले, गरज और दहाड़ वाले' घने जंगलों के प्रति कवि का अनुराग एक सहचर का सा है। कवि ने बारम्बार स्वयं पर रवीन्द्रनाथ इत्यादि अनेक सौन्दर्यचेता कवियों के प्रभाव की बात का उल्लेख किया है किन्तु यह जानकर आश्चर्य होता है कि मिश्र जी ने मानव सौन्दर्य का चित्रण प्रायः नहीं ही किया है। उनके काव्य में गदबदे बच्चों, शरमाती ग्राम वधुओं, कपोत कंठी सुन्दरियों, मौन बने रहने वाले लाज भरे सौन्दर्य का चित्रण सर्वथा अनुपस्थित है। यह तथ्य हमारा ध्यान अत्यन्त आग्रह के साथ इसलिये आकर्षित करता है क्योंकि कवि के प्रिय भारतीय अथवा पाश्चात्य समस्त कवियों ने मानव सौन्दर्य के अत्यन्त रससिक्त चित्र अंकित किये हैं। यहां पर यह ध्यान दिलाना आवश्यक जान पड़ता है कि मैं यहां 'सेक्स' की नहीं सौन्दर्य की बात कर रहा हूं। मिश्र जी के काव्य में 'सेक्स' के किसी रूप की चर्चा नहीं है—केवल यही नहीं जीवित सौन्दर्य का उल्लेख भी एक सिरे से गायब है। कवि स्वयं भले ही यह माने कि 'मेरा जीवन, कुछ ऐसी मस्ती में बीता कि प्रेम और सौन्दर्य का ध्यान ही मुझे नहीं आया, 'पर' इसका एक संगत कारण मुझे यह प्रतीत होता कि गांधी जी के उपयोगितावाद तथा विनोबा के सर्वोदयवाद से अनुप्राणित होने की वजह से मानव सौन्दर्य उनके लिये काम्य अथवा प्रेय नहीं रह गया है। वे रवीन्द्र से प्रभावित हैं किन्तु उनके काव्य में रवीन्द्रनाथ, गांधी जी के सांचे में ढलकर उपस्थित हुए हैं। हिमधवल, प्रदीर्घ दाढ़ी एवं धरा विचुम्बी चीनांशुक परिधान के स्थान पर गांधी जी की लाठी एवं लंगोटी धारण करने पर रवीन्द्र नाथ का जो रूप होता है वही रूप मिश्र जी के काव्य का है। सम्भवतः इसी कारण रवीन्द्रनाथ की भांति वे उर्वशी के दिव्य सौन्दर्य के गीत न गाकर 'सत्य काम' के गीत गाते हैं।

मिश्र जी की कविता अनुभूति प्रधान है। उसमें चिन्तन की बोझिलता अथवा कल्पना की वायवीयता का प्रायः ही अभाव है। यह चिन्तन और कल्पना मिश्र जी को अंगीकार है भी तो उन्हें भी अनुभूति के सांचे में ही ढलकर उपस्थित होना पड़ता है। मिश्र जी को यथार्थवादी कहा गया है, किन्तु उनका यथार्थ प्रगतिवादियों का यथार्थ नहीं है। वे जीवन की कटुता एवं विषमता से दुखी हैं और उस कटुता या विषमता को निश्शेष करने में काव्य की सार्थकता मानते हैं। किन्तु समाज में व्याप्त अन्याय, विद्रूपता और शोषण के विरुद्ध प्रगतिवादियों की तरह वे हिंसा अथवा घृणा के अस्त्रों का प्रयोग नहीं

करते। उनके यथार्थबोध के पीछे गहरी मानवीयता, सौहार्द एवं प्रेम छिपा हुआ है। 'स्नेह शपथ' नामक अपनी एक कविता में कहते हैं कि—

कितने भी गहरे रहें गर्त्त,
हर जगह प्यार जा सकता है
कितना भी भ्रष्ट जमाना हो
हर जगह प्यार जा सकता है।
जो गिरे हुए को उठा सके
इससे प्यारा कुछ जतन नहीं
दे प्यार उठा पाये न जिसे
इतना गहरा कुछ पतन नहीं।

साथ ही मिश्र जी का यथार्थ प्रकृतवादियों का यथार्थ भी नहीं है। मनुष्य उनके लिये कुठाओं एवं आवजनाओं का पुतला न होकर सहज स्वाभाविक स्नेह एव सद्भाव का पर्याय है। यही कारण है कि मिश्र जी के काव्य में मानवता के विजयघोष का स्वर निरन्तर सुनाई पड़ता है। समाज की प्रगतिशील शक्तियों के साथ मिश्र जी की निरन्तर सहानुभूति रही है और उन्होंने अपने वैयक्तिक जीवन की तरह ही अपने काव्य में भी कभी बेईमानी, अत्याचार अथवा अन्याय के साथ समझौता नहीं किया। वे प्रगतिवादी हैं किन्तु किसी पारिभाषिक अर्थ में नहीं बल्कि प्रगतिवादी शब्द के विस्तृततम सदर्भ में। वे कवि हैं—अत यह स्वयंसिद्ध है कि वे प्रगतिवादी हैं। उन्हीं के शब्दों में 'विस्तृत अर्थों में जो प्रगतिवादी नहीं हैं वह कवि नहीं हैं। अर्थात् जिसके अपने और दूसरों के अंधेरे से उजाले में जाने की कल्पना नहीं जागती वह कवि नहीं है। इस अर्थ में मैं अपने को प्रगतिवादी मानता हूं · ···।' किन्तु हिन्दी में प्रगतिवाद एव प्रगतिवादी एक रूढ़िगत साम्प्रदायिक अर्थ के द्योतक बन गये हैं अत भ्रांति की सम्भावना को पूरी तरह विनष्ट करते हुए भवानी प्रसाद मिश्र को प्रगतिवादी कहने की अपेक्षा प्रगतिशील कहना अधिक संगत ज्ञात होता है। इसी प्रगतिशीलता एव आशावादिता के बल पर कवि ने मानवता की सुख सुविधाओं 'सुविधामय भविष्य की कल्पना' 'अनन्त मधुमास' अथवा 'प्रकाशसागर' के रूप में की है और ऐसे एक समय की आहट को सुनता हुआ वह मानवता का जयघोष करता हुआ कहता है :—

'असहनीय है यह कि काल से हार रहें धरती के बेटे—
सोचें भर अपना अभाग कर आंख बंद, चुप लेटे लेटे

अभी काल रथ अपने आगे, इसको पीछे छोड़े तब है—
जैसे भी हम मुड़े, कि इसको वैसा वैसा मोड़े, तब है।'

'गीत फरोश' के अनेक गीतों में देश-प्रेम, भक्ति, दर्शन, और उपदेश के स्वर भी मिलते हैं। जैसा कि कवि ने स्वय स्वीकार किया है उसकी प्रारम्भिक कविताओं की छंद योजना और शब्द विधान पर मैथिली शरण गुप्त का प्रभाव था (कवि द्वारा १५ सितम्बर, १९६५ को लिखित पत्र) 'कुछ लिख के सो, कुछ पढ़ के सो, जिस जगह जागा सबेरे उस जगह से बढ़ के सो' जैसे उपदेशात्मक गीतों में यह स्पष्ट दिखाई देता है। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि उस समय मध्यप्रदेश के किसी उदीयमान कवि के लिये मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी से अप्रभावित रह पाना यदि सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था किन्तु मिश्र जी क्रमश· अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास एवं उसका परिवर्धन करते गये और मैथिलीशरण गुप्त एव 'भारतीय आत्मा' का प्रभाव अलग कर वे पूरी तरह से एक स्वाभाविक आत्मा बनने में सफल हुए।

उनके प्रारम्भिक काव्य में प्राय जीवन के उदात्त मूल्यों की महिमा के स्वर गूंजते सुनाई पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि भवानी प्रसाद मिश्र ने इन उदात्त मूल्यों को अपने जीवन को प्रयोगशाला में अपनी सहजता के रसायन से सिद्ध किया है।

अनुभूति के एक क्षण को व्याख्या द्वारा विश्लेषित करते चलना उनकी प्रिय शैली है। यह विश्लेषण किसी घटना अथवा वस्तु का सम्बल ग्रहण नहीं करता जैसा कि द्विवेदी युगीन कवियों के काव्य में प्राय· हुआ है। मिश्र जी की शैली वार्तालाप की शैली है। वे किसी बात को 'या', 'कि', 'हां', 'जी हाँ' 'याने', 'देखो' इत्यादि के माध्यम से श्रोता या पाठक को भली भांति समझाते चलते हैं। मिश्र जी के गीत काव्य का विस्तार जल के उस विवत की भांति है जो मानस सरोवर में अनुभूति के एक कंकड़ के पड़ने से उत्पन्न होता है। लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे कुछ आलोचकों ने मिश्र जी के काव्य को मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का प्रसार माना है किन्तु यह कथन पूर्णत· भ्रान्तिमूलक एव निराधार है। भवानी प्रसाद मिश्र के प्रारम्भिक गीतों पर मैथिलीशरण जी का प्रभाव उपस्थित है, यह सच है किन्तु मिश्र जी की काव्य भावना गुप्त जी की काव्य भावना से अधिक प्रगतिशील, आधुनिक एवं विकसित है। गुप्त जी इतिवृत्तात्मक एव आदर्शवादी कवि हैं। उनकी भाषा में एक तरह का खड़ापन एव रुक्षता प्राय· दृष्टिगोचर होती है। मिश्र जी ने अपने काव्य में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इतिवृत्त या घटनाओं का उपयोग प्रायः नहीं ही किया है। मिश्र जी जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति सहज आकृष्ट कहे जा सकते हैं किन्तु वे

आदर्शवादी नहीं हैं। उनके काव्य में आदर्श का जयघोष अवश्य है किन्तु उनके काव्य का प्रस्थान आदर्शवादी नहीं है। जीवन के वैषम्य एव अनाचार को सुखाने के लिये वे अपनी लेखनी से 'विष-भरा' लिखने में संकोच नहीं मानते जबकि मैथिलीशरण गुप्त की वैष्णवभावना उन्हें भावुक गांधीवाद से आगे नहीं बढ़ने देती। यदि हम दोनों कवियों की एक ही विषय पर निर्मित कविताओं का विश्लेषण करे तो यह बात भली भांति सिद्ध की जा सकती है। ग्राम्य जीवन से सम्बद्ध गुप्त जी की कतिपय पंक्तियां हैं :—

> 'अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है ?
> क्यों न इसे सबका मन चाहे
> थोड़े में निर्वाह यहां है
> ऐसी सुविधा और कहां है ?'

इन पंक्तियों में ग्राम्य जीवन की विषमता, विषण्णता, विपन्नता एवं व्यथा का संकेत तक नहीं है। कवि ग्राम्य जीवन के अभाव को जीवन की सबसे बड़ी सुविधा मान लेने का जो उपदेश दे रहा है वह यथार्थ विमुख आदर्शवादी पद्धति पर है। ग्राम्य जीवन से ही सम्बद्ध मिश्र जी की कतिपय पंक्तियां इस प्रकार हैं—

> 'गांव इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है,
> झोपड़ी के फटकियां है, दर नहीं है,
> धूल उठनी है, धुए से दम घुटता है,
> मानवों के हाथ से मानव लुटा है।
> सो रहा है शिशु कि मां चक्की लिये है,
> पेट पापी के लिये पक्की किये है।
> फट रही छाती।'

निश्चय ही मिश्र जी का यह ग्राम्य वर्णन भारतीय ग्रामों की दुखद स्थिति का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है।

भाषा के संबंध में मिश्र जी का काव्य द्विवेदी युगीन काव्य से बहुत आगे की वस्तु है। गुप्त जी को द्विवेदी युगीन काव्य का प्रतीक पुरुष मानकर यदि हम उनकी भाषा की तुलना मिश्र जी की भाषा से करें तो हमें प्रतीत होगा कि गुप्त जी के शब्द चयन में एक प्रकार का आयास एवं बोझिलता है। उनकी तुकों में प्रत्येक स्थल पर स्वाभाविकता एवं स्वतः स्फूर्ति नहीं रह गई है। उसकी तुलना में मिश्र जी की काव्य भाषा सहज, सरल, प्रवहमान,

स्वाभाविक एवं जीवन के अत्यन्त निकट है। 'बोल उनके हैं कि घरती से सटे सरकते हैं"। कहीं कहीं तुकों का आग्रह मिश्र जी को भी कई मदेस शब्द चुनने को बाध्य करता है किन्तु अनुभूति के उद्दाम वेग के कारण वे कभी भी वितृष्णाजनक नहीं लगते, जैसे

आज गीता पाठ करके,
दंड दो सौ साठ करके,
खूब मुगदर हिला लेकर,
मूठ उनकी मिला लेकर।

गुप्त जी की तुलना में मिश्र जी की काव्य भावना को अधिक विकसित एवं अभिव्यक्ति प्रणाली को अधिक सहज मानने में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की अवमानना करना हमारा लक्ष्य नहीं है, अपितु हिन्दी के काव्य विकास में मिश्र जी का स्थान निर्धारित करता है।

वस्तुत मिश्र जी हिन्दी के आस्तिक कवि हैं यद्यपि वे ईश्वर पर विश्वास नहीं करते। वे यथार्थवादी हैं यद्यपि हिंसा और क्रान्ति में उनकी आस्था नहीं है। वे प्रयोगवादी हैं यद्यपि परम्परा में उनकी जड़ें बहुत गहरी हैं। वे अत्यन्त सरल है, यद्यपि उन्हें ठगना आसान नहीं। वे गांधीवादी हैं, यद्यपि उनके काव्य की सौन्दर्य चेतना पर रवीन्द्रनाथ का गहरा प्रभाव है। वे व्यंग्य विद्रूपमयी कवितायें लिखते हैं यद्यपि काव्य में उनका सबसे बड़ा अस्त्र मानवीय करुणा और सवेदना है। इन सब विरोधाभासों का कारण यह है कि 'प्रकृति हो या मानव, अथवा मानव की बनाई बिगाड़ी हुई दुनियां, भवानी प्रसाद इन सब की उपलब्धि अपनी अन्त सत्ता के माध्यम से ही कर पाते हैं।' 'शास्त्र हो अथवा सिद्धान्त वह भवानी प्रसाद मिश्र का अपना नहीं हो पाता—तब तक उनके काव्य में उसे समादर भी नहीं प्राप्त होता।—अनुभूत होने पर ही अनुभव भवानी प्रसाद के लिये अनुभूति बन पाती है।'

सारांश में कहा जा सकता है कि जो उपलब्धि उनको अपनी अनुभूति नहीं उसे काव्य में बांधने का लोभ भी उन्हें नहीं होता। इसीलिये हो सकता है जिन अनेक विषयों पर अनेक कवि अनेक कवितायें रचते हैं उनकी ओर भवानी प्रसाद आकृष्ट ही नहीं होते।

अपने कथ्य में वे जिस प्रकार अनौपचारिक अथच अनायास हैं उसी प्रकार अपनी कथनी में भी। वक्तव्य और अभिव्यक्ति की ऐसी सहज आत्मीयता एव निर्व्याज सरलता हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। भवानी प्रसाद मिश्र के मन में जो चीज घुमड़ती है वह धरती पर गिरे

वर्षा के जल को तरह सहज ही अपना स्वभाव सिद्ध शब्द मार्ग ढूंढ लेती है। वे जिस तरह सोचते हैं उस तरह बोलते हैं और जिस तरह बोलते हैं, ठीक उसी तरह लिखते हैं और अपने काव्य में मन की बात बिल्कुल ठीक इस तरह करते हैं कि स्वाद सिर चढ़ जाये। अपने वक्तव्य में मिश्र जी शत प्रतिशत खरे हैं। उनमें किसी प्रकार के नखरे (मैनरिज्म) का सर्वथा अभाव है। उनका संकल्प है,

"मनकी कसक निछक औ नंगी
बिन कपड़े
बिन गहने कहना।"

शब्द चयन में उन्हें किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। शब्द मैत्री की ऐसी पहचान उन्हें है जिसे उनकी कविता शुरू से ही लेकर उतरी थी। इसलिये अपनी शब्दावली को काव्य भाषा बनाने के लिये उन्हें उसे गढ़ना अथवा सजाना संवारना नहीं पड़ता। शब्द अपने आप यथास्थान जुड़ जाते हैं। हिन्दी काव्य भाषा को मिश्र जी का सबसे बड़ा दाय यह है कि उन्होंने साहित्यिक भाषा और सामान्य बोलचाल की भाषा के पार्थक्य को पूरी तरह मिटा दिया है। आचार्य द्विवेदी ने गद्य और पद्य की भाषा का व्यवधान मिटाकर खड़ी बोली काव्य के इतिहास में एक महान क्रान्ति का सूत्रपात किया था। छायावाद युग में गद्य और पद्य की भाषा में कोई पार्थक्य तो नहीं रह गया था किन्तु पद्य की भाषा जन जीवन से विलग एव अत्यन्त अभिजात हो गयी थी। उस युग की तत्सम बहुला, सस्कृत गर्भिता, समास गुफिता पद वल्लरी के स्थान पर जब बच्चन आदि छायावादोत्तर कवियों ने अपने काव्य में बोल चाल की सामान्य भाषा का प्रयोग किया तो खड़ी बोली काव्य भाषा के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। मिश्र जी ने अपनी काव्य भाषा द्वारा इस शताब्दी के प्रारम्भ में द्विवेदी जी द्वारा उपस्थित क्रान्ति को अपनी स्वाभाविक परिणति तक पहुचा दिया है। उनकी काव्य भाषा की विशेषता यह है कि 'बोलचाल की भाषा लिखने के लिये कवि को साधु भाषा का परिहार नहीं करना पड़ता, सस्कृत निष्ठ भाषा लिखने के लिये फारसी से झगड़ा नहीं करना पड़ता।' काव्य भाषा को इस ताजगी, अकृत्रिमता एव अनायासता का कारण प्रयोग के लिये प्रयोग का आग्रह नहीं है बल्कि कवि का यह आत्म-विश्वास है कि—

'जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।'

भाषा की इस आडम्बरविहीनता एवं स्वतः स्फूर्ति की नैसर्गिक परिणति यह है कि मिश्र जी का काव्य हमें स्वगतोक्ति जैसा लगता है। वे कवि और पाठक के बीच में किसी प्रकार की औपचारिकता की दखलदाजी पसन्द नहीं करते। मिश्र जी का काव्य पढ़ना ऐसा लगता है कि जैसे हमारा कोई अत्यन्त आत्मीय एव अभिन्न मित्र हमसे बातचीत कर रहा हो। उनके काव्य का रस 'आर्ट आफ कनवर्सेशन' का रस है। यह रस उनके काव्य को एक अनौपचारिक एव मार्मिक व्यक्तित्व ही प्रदान नहीं करता बल्कि वह उसे सहज प्रेषणीय भी बनाता है। प्रयोगवादी अथवा नयी कविता के सम्मुख घोर वैयक्तिकता फलत· असाधारणीकरण का जो विराट प्रश्न चिह्न लगाया जाता है वह मिश्र जी के पास फटक भी नहीं जाता ·—

'बात है मन में तभी तक रात है,
जो हुई बाहिर कि हाथों हाथ है।'

भवानी प्रसाद मिश्र का लेखन का एवं उनका दाय अभी निश्शेष नहीं हुआ है। भविष्य में उनसे महत्वपूर्ण रचनाओं की अपेक्षा सहज ही की जा सकती है। यद्यपि यह सच है कि मिश्र जी की वे कवितायें जो इन दिनों पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं मन को उस गरम जोशी से नहीं बाँधती जो उनकी 'गीत फरोश' कालीन कविताओं का प्रधान गुण रहा है। कवि की आस्था और आशा का स्वर भी किंचित क्षीण हुआ है फलत वे कभी कभी 'जड़' हो जाने की कामना करते दिखाई पड़ते हैं। हो सकता है कि उनका यह स्वर अस्थायी ही हो। यह भी सभव है कि कविता चिन्तन और अनुभव का बोझ सभाल नहीं सकती। यौवन के प्राथमिक आवेग में कविता में जिस प्रखरता, मार्मिकता, सम्वेदना और प्रभविष्णुता के दर्शन होते हैं, प्रौढ़ावस्था के आगमन एव अनुभव के बोझ के कारण उनका स्वर क्रमश· क्षीण होने लगता है और कविता बोझिल और गम्भीर होने को बाध्य हो जाती है। कुछ भी हो, छायावादोत्तर हिन्दीकाव्य में जिन कवियों को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है उनमें मिश्र जी का स्थान अग्रिम पक्ति में है। 'दूसरा सप्तक' में परिगणित होने से उनका उल्लेख प्राय· प्रयोगवादी कवि के रूप में किया जाता है। किन्तु 'दूसरा सप्तक' में परिगणित होने से ही किसी कवि को प्रयोगवादी नहीं कहा जा सकता। 'जब मैंने 'दूसरा-सप्तक' में अपनी कवितायें भेजी थी, तब मुझे यह भी नहीं मालूम था कि प्रयोगवाद का कोई वाद कहीं चल रहा है।' अपने रगोबू एवं स्वाद में

मिश्र जी हिन्दी में अकेले कवि हैं। उन पर किसी वाद अथवा 'स्कूल का लेबल' चिपकाना उनके प्रति अन्याय करना है। वे प्रयोगवादी या नये कवि की अपेक्षा 'केवल कवि' अधिक हैं। अभी तक काव्य के लिये जो गुण अनिवार्य माने गये हैं उनके बिना भी जीवन्त एवं प्रभावशाली कविता की सृष्टि की जा सकती है—भवानी प्रसाद मिश्र का काव्य इसका उदाहरण है। काव्य में उनका स्वर किसी 'वादी' या 'विवादी' का न होकर सवादी अथवा 'भवानी वादी' का है। अपने व्यक्तित्व की तरह अपने काव्य में भी वे अद्वितीय हैं। जैसे वे आदमी भरपूर हैं, कवि भी ठीक वैसे ही वे भरपूर हैं।

रीति और कविस्वभाव

विजेन्द्रनारायण सिंह

साहित्य के विभावन के ही समान रीति के क्षेत्र में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ने विलक्षण क्रान्ति उपस्थित की। डा० राघवन के अनुसार भारतीय काव्य शास्त्र में रीति के विकास के तीन सोपान हैं। पहला सोपान वह है जब रीति देश विशेष से संबद्ध मानी जाती थी। दूसरा सोपान वह है जब वह देश के आसंगों से मुक्त होकर वस्तु के साथ जोड़ दी गयी। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण सोपान यह है कि कुंतक ने अपनी प्रखर मेधा और साहित्यिक प्रतिभा से इसे कवि स्वभाव से सम्बद्ध बतलाया और पुरानी रीतियों के स्थान पर नयी रीतियों की स्वतंत्र उद्‌भावना की।[1] इस प्रकार कुंतक ने रीति के क्षेत्र में भी 'पुराणरीति' का व्यतिक्रम किया और संस्कृत के काव्यशास्त्र को जड़ चिंतन से मुक्त करने में ठोस योगदान दिया।

रीति का सिद्धान्त अलकार के अतिसूक्ष्म भेदों-उपभेदों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। उसकी उद्‌भावना के मूल में यह विचारणा थी कि काव्यशरीर का प्रभाव खण्डश: नहीं प्रत्युत् समग्रत होता है। अलंकारों के अतिवाद ने खंडप्रभाव के दर्शन को जन्म देकर काव्य का बड़ा ही अनिष्ट किया। रीतिवाद ने यह स्थापना दी कि कवि के प्रस्थान का माग ही वह सांचा है जिससे ढलकर अलंकार स्वय निकलते हैं।

रीति को पंथ और मार्ग भी कहते हैं। भारतीय साहित्य में रीनि से काव्यपुरुष के गठन का बोध होता है। इसलिए रीनि का सम्बन्ध काव्य में उत्कृष्ट संघटना से माना जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब लक्ष्य ग्रंथों में रीति का स्पष्ट पार्थक्य दीखने लगा होगा, तब लक्षण ग्रन्थों में इस पार्थक्य पर विवेचन शुरू हुआ होगा। जिस प्रकार देशभेद से मनुष्य के व्यवहार की रीनि में अंतर आ जाता है, उसी प्रकार साहित्य में भी देश के आधार पर रीतियों का वर्गीकरण किया गया। रीति की भौगोलिक उद्‌भावना का आधार भरत में ही मिल जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से रीति का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु वे भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित चार प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। भारत के पश्चिमी भाग की प्रवृत्ति आवन्ती, दक्षिणी भाग की प्रवृत्ति दाक्षिणात्य, उड्र अर्थात् उड़ीसा तथा मगध की प्रवृत्ति उड्र मागधी और पांचाल की पांचाली है।

> चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः।
> आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्रमागधी॥
>
> (नाट्यशास्त्र १३.३६।)

---

१. सम् कंसेप्ट्स् अव् अलंकारशास्त्र, पृ० १३१।

प्रवृत्ति का संबन्ध पृथ्वी के नाना देशों के वेश, भाषा तथा आचार आदि से है। भरत के शब्दों में—"पृथिव्यां नाना देशवेषभाषाचारा वार्ता· ख्यापयतीति वृत्ति· प्रवृत्तिश्च निवेदनो।"२ अतएव उनकी प्रवृत्ति भाषा से अधिक जीवनचर्या को ही व्यक्त करती है।

बाण ने यह लक्ष्य किया था कि भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग काव्य में अलग-अलग विशेषताओं में रस लेते हैं। उत्तर भारत के लोग श्लेष, पश्चिम के लोग अर्थ गौरव, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा और गौड लोग अक्षराडम्बर पर मुग्ध हैं।

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बर ॥

हर्षचरित १, ७।

किन्तु बाण इन सभी गुणों के समाहार की कामना करते हैं। रीति की पहली स्पष्ट चर्चा भामह में मिलती है। उन्होंने वैदर्भ और गौड की चर्चा रीति के रूप में नहीं प्रत्युत् काव्य भेद के अन्तर्गत की है। उनके विवेचन से यह साफ झलकता है कि उस समय पंडितों का ऐसा सम्प्रदाय था जो वैदर्भ को ही श्रेष्ठ काव्य मानता था, उससे भिन्न किसी काव्य भेद को वह मान्यता देने को प्रस्तुत नहीं था। भामह इस दृष्टि को निस्सार और अग्राह्य मानते हैं। वे पहली बार तात्त्विक ढग से विचार करते हुए कहते हैं कि यह गौड है, यह वैदर्भ है, क्या ऐसा पार्थक्य संभव है? हाँ, गतानुगतिकता के कारण बुद्धिहीन ऐसा अवश्य कर सकते हैं।

गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्ययममेधसाम्॥ (का० १, ३२)।

भामह की प्रतिभा ने पहली बार इस भौगोलिक धारणा की असारता पर चोट की। उन्होंने बतलाया कि नाम प्राय· इच्छा प्रसूत होते हैं, उनका अर्थ से विशेष संबध नहीं रहता है (का० १, ३३)। इस तरह एक ओर वैदर्भ तथा दूसरी ओर गौडीय—वे दोनों मार्ग की सीमाओंका निर्देश करते हैं। उनके अनुसार अर्थ गांभीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल और कोमल वैदर्भ काव्य सच्चे काव्य से भिन्न, सगीत के समान, केवल श्रुतिमधुर होता है (का० १ ३४)। उसी प्रकार अलंकार युक्त, ग्राम्यतारहित, अर्थवान्, न्याय संगत, अनाकुल गौडीय मार्ग भी अच्छा है। अन्यथा इन गुणों से वंचित वैदर्भ भी श्रेयस्कर नहीं है (का० १, ३५)। इस प्रकार भामह ने रीति की भौगोलिक सीमाओं को समझा था और संक्षेप में ही सही, किन्तु, उसकी असारता सिद्ध की थी। उन्होंने निर्भ्रान्त रूप से रीतियों की

२, नाट्यशास्त्र, जिल्द २ (बड़ौदा) पृ० २०५।

वस्तुपरक दृष्टि पर प्रहार किया और उसकी प्रादेशिकता को अस्वीकार किया। इस प्रकार रीति के क्षेत्र में नव्य चिंतन का सूत्रपात उन्हीं से होता है।

दण्डी ने भी बहुत दूर तक रीति की वस्तुपरक दृष्टि का तिरस्कार किया। उन्होंने स्वीकार किया है कि वाणी के मार्ग अनेक हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। वे वैदर्भ और गौडीय मार्गों के स्पष्ट पार्थक्य को लक्ष्य करते हैं। उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस वैदर्भ मार्ग के गुण बतलाये हैं। गौड मार्ग में इनका प्राय: विपर्यय लक्षित होता है।३ किन्तु दण्डी का कहना है कि इनमें अवान्तर प्रभेद कवि भेद से अनन्त हैं, उनका वर्णन असंभव है। वे दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार ईख, दूध एवं गुड़ में वर्तमान माधुर्य में अन्तर है, वह अन्तर महान् है, परन्तु उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, उसी प्रकार गौड-वैदर्भ सम्प्रदायान्तर्गत उपभेदों के बीच वर्तमान महान् भेद का वर्णन अशक्य है (का० १ १०१-२)। इस प्रकार दण्डी की स्थापना का निष्कर्ष यह तो है ही कि रीति आत्मगत तत्त्व है और प्रत्येक कवि की अपनी रीति होती है। चूंकि कवि अनेक हैं, इसलिए रीतियों की वास्तविक संख्या भी नियत नहीं है। किन्तु दण्डी वैदर्भ और गौडी के परम्पराभुक्त वर्गीकरण का अतिक्रमण नहीं कर सके। फिर वैदर्भ को श्रेष्ठ और गौडी को हीन मानने में वे भामह की उद्‌भावना से भी पीछे चले गए हैं। लेकिन भामह की तरह उनका भी योगदान यह है कि उन्होंने रीतियों की सापेक्षता पर बल दिया।

रीति को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले वामन ने भामह और दण्डी की वैदर्भी और गौडी के साथ पांचाली को जोड़ दिया। वामन में आकर रीतियाँ भौगोलिक आसंगों से मुक्त होने लगीं और वे गुण से स्पष्टत अनुशासित बतलायी गयीं। वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा—'विशिष्ट पदरचना रीतिः' (का० सू० वृ० १, २, ७)। इसी

---

३ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥
श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि॥ १, ४०-४२। काव्यादर्श

सूत्र की वृत्ति में वे लिखते हैं—'विशेषवती पदानां रचना रीतिः'।४ विशेष से उनका तात्पर्य गुण से है—'विशेषो गुणात्मा'।५

वामन के मंतव्य को हम आधुनिक समीक्षा की दृष्टि से समझने का प्रयास करें। जान लिविंगस्टन लोवेस का कहना है कि—"गद्य और काव्य की रीति में मुख्य अंतर इन दो माध्यमों में शब्दों के कार्य का अन्तर है। गद्य में शब्दों का मुख्य काम कहना है, किन्तु काव्य में शब्दों का मुख्य काम ध्वनित करना है।"६ गद्य में शब्द केवल साफ-साफ अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसमें शब्द रेखागणित की भुजाओं की तरह डंडे होते हैं। ये शब्द कोई एक विचार सूत्र तो व्यक्त कर देते हैं, किन्तु किसी आवेग को जन्म नहीं देते। लेकिन काव्य में शब्द आवेग को संप्रेषित करते हैं। इसलिए उनका विन्यास विशेष ढंग से किया जाता है। इसीलिए राजशेखर ने वचन-विन्यास-क्रम को रीति कहा है—'वचनविन्यास क्रमो रीतिः'७, यह विशेष विन्यास एक परिवेश का निर्माण करता है। इस विशेष विन्यास को हटा दीजिए, कविता का आकर्षण ओस कणों की तरह सूख जायगा। "काव्य की रीति में प्रत्येक शब्द" जैसा कि जाबर्ट कहता है, "सुनियोजित बीन की तरह प्रतिध्वनित होता है और हमेशा प्रचुर स्पन्दनों को छोड़ जाता है।"८ कवि की सिद्धि इस बात में है कि वह शब्दों के नियत और अनियत अनुगूंजों का समवाय उपस्थित करे। वामन ने इसी अर्थ में विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है।

स्वयं वामन इस विशेष को गुण से सबद्ध करते हैं। यह गुण भी वस्तुतः शब्द-विन्यास का ही तो परिणाम है। वे ही शब्द जब कोश में पड़े रहते है तब उनमें इन गुणों का अस्तित्व नहीं होता है। किन्तु ये गुण कवि कर्म से समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार इस भ्रान्त धारणा का स्वतः खंडन हो जाता है कि काव्य के शब्द गद्य के शब्द से भिन्न होते हैं। भिन्नता शब्दकोश की नहीं प्रत्युत् पद-रचना की विशिष्टता की ही होती है। इसलिए वामन जब रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं तो वे सत्य के किसी न किसी पहलू को अवश्य ही छूते नजर आते हैं।

---

४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० १९।

५. वही, पृ० १९।

६. कन्वेन्शन्स एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री, पृ० ११७।

७ काव्य मीमांसा, पृ० २१।

८ कन्वेन्शन्स एण्ड रिवोल्ट इन पोइट्री, पृ० ११२।

वामन कहते हैं कि वैदर्भी रीति में समस्त गुणों का सद्भाव रहता है।९ किन्तु गुणों को ही रीतियों का आधार मानने का एक परिणाम हुआ कि उनकी गौडी दण्डी की तरह निकृष्ट कोटि की गौडी रीति नहीं रह गयी प्रत्युत् वह वैदर्भी के ही समान सुन्दर तथा आह्लादक हो गयी। इसमें कान्ति तथा ओज गुणों की प्रधानता रहती है— 'ओज कान्तिमयी गौडीया' (का० सू० वृत्ति १।२।१२)। इसमें उन दो गुणों के कारण ओजस्विता का अधिक संचार रहता है।१० पांचाली में ओज तथा कान्ति गुणों का अभाव तथा माधुर्य और सौकुमार्य का सद्भाव रहता है। 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली' (का० सू० वृ० १।२।१३)। किन्तु भामह ने जहाँ किसी एक रीति को श्रेष्ठ घोषित नहीं कर बड़ी विचक्षणता का परिचय दिया था वहाँ वामन फिर पुराणरीति की ओर लौट आते हैं। वे रचयिता को सलाह देते हैं कि वे वैदर्भी का ही आश्रय ग्रहण करें क्योंकि उसी में गुणों की समग्रता रहती है। वे यह भी कहते हैं कि गौडी और पांचाली का ग्रहण न करे क्योंकि इनमें गुणों की अल्पता रहती है।११ इस प्रकार वामन रीति की समस्या को उलझा देते हैं।

स्वयं वामन का उलझ जाना भयंकर प्रमाणित हुआ। वे प्रतिभाशाली और मौलिक आचार्य थे। इसलिए उनकी भूल घातक सिद्ध हुई। इससे रुद्रट जैसे अपेक्षया कम प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए गलत चिंतन का द्वार उन्मुक्त हो गया। रीति के विभावन को स्पष्ट करने में उन्होंने बुनियादी भूल की है।११ समस्या को समझे ही नहीं हैं। उन्होंने उद्भट के अनुकरण पर रीति को शब्दालंकार (अनुप्रास) के अन्तर्गत विवेचित किया है (काव्या० २, १८-३०)। उन्होंने रीति को मात्र समासाश्रित बतलाया। उनकी लाटीया पाँच-सात पदों वाली और गौडी सात या उससे अधिक पदों के समास से युक्त होती है।१२ वस्तुत रीति को काव्य की

---

९ समग्र गुणा वैदर्भी—का० सू० वृ० १।२।११।

१०. समस्तात्युद्भटपदामोज: कान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणा॥ का० सू० वृ०, २४।

११ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् ।१।२।१४
न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात् ॥१।२।१५।

१२ द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दा: समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥ (का० २।५)।

बुनियादी संघटना से भिन्न शब्दालंकार मात्र समझना विषय का गलत विभावन है। किन्तु रुद्रट ने एक महत्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने रीतियों को भौगोलिक आसगों से पूरी तरह मुक्त कर उसे वस्तु के साथ संबद्ध कर दिया। उन्होंने बतलाया कि प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत इन चार रसों में वैदर्भी और पांचाली रीति का प्रयोग करना चाहिए और रौद्ररस में लाटीया तथा गौडी का (का० १५, २०)। इस प्रकार रीति के पूर्वस्वीकृत तीन भेदों में रुद्रट ने अपनी लाटीया जोड़ दी।

आनन्दवर्द्धन ने रीति को संघटना कहा है। सम्यक प्रकार की पदरचना ही संघटना या रीति है। वामन के लिए रीति सिद्ध है किन्तु आनन्दवर्धन के लिए वह साधनमात्र है। उनके अनुसार यह संघटना गुणों के आश्रित होकर रसादि को अभिव्यक्त करती है—'सा संघटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठतीति१३ (३, ५)। आनन्दवर्धन ने संघटना और गुणों को अन्योन्याश्रित माना है। 'गुणाश्रया संघटना, संघटनाश्रया वा गुणा इति।' उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बतलाये हैं—असमासा, मध्यसमासा और दीर्घसमासा (ध्व० ३, ५)। इस प्रकार आनन्दवर्धन की रीति समासाश्रित है, गुणाश्रित है और वह रसाभिव्यक्ति का माध्यम है।

एक प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति से किसी भी वस्तु को रमणीय बना देता है। वह वस्तु में, कभी कभी अवस्तु में भी अपने व्यक्तित्व का कुछ न कुछ समावेश कर जीवंत बना देता है। प्रसिद्ध अमरीकी विचारक और आलोचक जान बौरो के अनुसार—"एक लेखक हमें मात्र उतना ही नहीं देता है जितना वह सोचता अथवा जानता है वरन् वह हमें अपने को देता है। उसके और पाठक के बीच कुछ भी गौण अथवा कृत्रिम नहीं होता है। यह तो उसी कोटि की कृतियाँ हैं जिन्हें मानवजाति नष्ट होने नहीं देती है। कुछ विचारक प्रज्वलित अग्नि के समान होते हैं, उनके साथ हमारा प्रेषण कितना प्रत्यक्ष और त्वरित होता है, वे किस प्रकार हममे दिलचस्पी उत्पन्न करते हैं, वहाँ किसी प्रकार का पर्दा नहीं है। हम उनके विचारों को जीवत रूप में देखते और महसूस करते हैं, हम उनके चैतन्य का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुत सभी अच्छा साहित्य - गद्य अथवा काव्य अनावृत अग्नि के समान है - इसमें प्रत्यक्षता, यथार्थ और आकर्षण रहते हैं—हम कुछ ऐसी चीज़ का अनुभव करते हैं जो हमें उष्ण और उत्तेजित कर देती है।"१४

---

१३ ध्वन्यालोक, पृ० २३२।

१४, लिटररी वैल्यूज़ एण्ड अदर पेपर्स, पृ० ६१-२।

मधुमक्खी फूलों से मधु का सचय नहीं करती है। मधु, स्वयं मधुमक्खी का उत्पादन है। मधुमक्खी तो पराग-मात्र का संचय करती है और वह उसी से मधु बना लेती है। साहित्य में कवि के स्वभाव का योगदान लगभग ऐसा ही है। जैसा कि जान बौरो ने कहा है कि "शक्तिवान् लेखक शब्द को अपना बना लेते हैं। साहित्यिक गुण ऐसी चीज़ नहीं है जिसे परिधान की तरह पहन लिया जाय। यह गुण कलम का नहीं, मन का होता है, यह मन का भी नहीं, आत्मा का धर्म है। यह वह चीज़ है जो लेखक में सबसे प्राणवंत व्यवच्छेदक होती है। गुण ऐसी चीज़ है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता, और कला में यही एक चीज़ है जिसका अनुकरण अशक्य है। एक व्यक्ति के आचरण का अनुकरण हो सकता है किन्तु उसकी शैली, उसके आकर्षण, उसके वास्तविक मूल्य की विडम्बना ही की जा सकती है। यदि कोई गौण कवि किसी बड़े कवि का चेतन या अचेतन रूप से अनुकरण करता है, तब हम उसमें केवल बड़े कवि को रीति का आभास मात्र पाते हैं, उसके अपरिहार्य गुण की आवृत्ति नहीं की जा सकती है।"१५

रीति (डिक्शन) कवि स्वभाव के सस्पर्श से शैली (स्टाइल) बनती है। यह भाषा के साथ कवि के व्यक्तित्व के घात-प्रतिघात का परिणाम है। कवि शब्दों में अपने मन का ताप भर देता है। इस प्रकार शब्द उसके अपने बन जाते हैं और नयी प्राणवत्ता की प्राप्ति कर लेते हैं। जो कवि अपने शब्दों का प्रयोग यंत्र की तरह करता है, उसे एक पुर्जा मात्र समझता है, उसे अपनी आत्माका सत्त्व नहीं देता है, वह हमें अपने माध्यम के व्यर्थ ही सचेष्ट कर देता है। शब्दार्थ उसके विचार का शरीर नहीं प्रत्युत परिधान बन कर उपस्थित होते हैं। ऐसे लेखक को वस्तुत शैली होती ही नहीं है। "शैली" जैसा कि शोपेनहावर ने कहा है—"मन की आकृति सामुद्रिक है और चरित्र की पहचान के चेहरे से अधिक विश्वसनीय आधार है।"१६

कुंतक में आकर रीति, जो कि अपेक्षया व्यापक कविस्वभाव की देन है, शैली के समीप चली आयी है। शैली में रीति की अपेक्षा वैयक्तिक संस्पर्श अधिक होता है। कुंतक ने रीति पर विचार करने में भामह की ही प्रौढ़ि का परिचय दिया है। उन्होंने पहली बार रीति की भौगोलिक संज्ञाओं का पूर्ण तिरस्कार किया। उन्होंने उसके सुकुमार और विचित्र दो मुख्य प्रकार माने हैं। इन दोनों को मिला कर एक उभयात्मक मार्ग भी बतलाया है। उनके

१५, वही ६४।

१६, लिटररी वैल्यूज़ एण्ड अदर पेपर्स, पृ० ६७।

सुकुमार और विचित्र मार्ग क्रमशः वैदर्भी और गौडी के स्थानापन्न हैं। उन्होंने पहलीबार यह स्थापित किया कि रीति का पार्थक्य कविस्वभाव के कारण उत्पन्न होता है न कि देश भेद के कारण।

कुंतक जब रीतियों के भौगोलिक आधार का पूर्ण तिरस्कार करते हैं तब वे सहज ही आधुनिक समीक्षा की मुख्य चिंताधारा के समीप पहुँच जाते हैं। आज की समीक्षा भी स्वभाव द्वैविध्य का आधार ग्रहण कर मुख्यतया दो ही प्रकार की रीतियाँ मानती है। विन्चेस्टर के अनुसार—"यद्यपि वैयक्तिकता का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता है, तब यह कहा जा सकता है कि सामान्यतया अभिव्यंजना की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ होती हैं. एक प्रकार स्पष्टता और संक्षिप्ति की ओर जाता है, तो दूसरा प्रकार विस्तार और प्राचुर्य की ओर झुकता है। इन दोनों का अन्तर समझने के लिए मैथ्यु आर्नल्ड की कविता की तुलना टेनिसन की कविता से अथवा न्यूमैन के गद्य की तुलना जेरेमी टेलर के गद्य से की जा सकती है। प्रथम प्रकार के कवि विचारों की स्पष्टता, बिम्बों के संमूर्त्तन, विशेषणों की अनुरूपता और संतुलन पर विशेष आग्रह दिखलाते हैं। उनकी शैली को हम अभिजात (क्लासिक) कहते हैं। दूसरे प्रकार के कवियों के विचारों को राशि एकत्र रहती है, परन्तु स्वच्छता से परिष्कृत नहीं रहती, उत्साह अधिक किन्तु भावना संयम अल्प रहता है, प्रचुर और प्रत्यक्षवत् बिम्ब, साथ ही रंग की समृद्धि अधिक किन्तु परिभाषा की प्रतिपन्नता कम रहती है। वे अलकृति तथा बहुलता उत्पन्न करते हैं। उनका प्रभाव गहरा तथा विस्तृत होता है परन्तु उनमें स्निग्धता तथा माधुर्य का अभाव रहता है। केवल साहित्य के ही क्षेत्र में यह रीति भेद लक्षित नहीं होता प्रत्युत ललित कला के क्षेत्र में भी यह पार्थक्य जाग्रत रहता है। एक तो अधिकतर सौकुमार्य और चमत्कार की भावना जाग्रत करता है और दूसरा अधिकतर वैषम्य तथा सामर्थ्य की धारणा प्रवृत्त करता है। दोनों में कौन अधिक श्लाघनीय तथा ग्राह्य है यह राय देना आलोचक का काम नहीं है।"१७

विन्चेस्टर की अंतिम पंक्ति में स्पष्टतः भामह की ही अनुगूँज मिलती है। भामह ने भी वैदर्भी और गौडी में किसी एक को श्रेष्ठ नहीं बतलाया है (का० १।।३३-४ ।।)। विन्चेस्टर के इस वर्गीकरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि यद्यपि व्यक्तित्व-भेद से शैली के भी अनंत प्रकार होते हैं तथापि उन्हें दो मोटी रीतियों में विभाजित किया जा सकता है। शैली का नियतत्व ही रीति है। विन्चेस्टर के वर्गीकरण में जैसा कि डा० राघवन ने बतलाया

---

१७. सम प्रिंसिपल्स अव् लिटररी क्रिटिसिज्म, ई० टी० विन्चेस्टर, पृ० २२३-४।

है।[१८] ऐसा लगता है जैसे कालिदास की शैली की तुलना बाण और भवभूति से की गई हो। यह तुलना वैदर्भी और गौडी की तुलना के ही समान है। यह द्वैविध्य कुंतक के सुकुमार और विचित्र मार्ग को सहज ही याद दिला देता है। सुकुमार की शोभा सहज शोभा है और विचित्र आहार्य शोभा से युक्त होता है। सुकुमार मार्ग के संचरण का क्षेत्र स्वभावोक्ति और रसोक्ति है, विचित्र मार्ग का क्षेत्र वक्रोक्ति है। हालांकि सभी सत्कवि सुकुमार मार्ग पर ही संचरण करते हैं, तथापि विचित्र में सफलता प्राप्त कर लेना खड्गधार पर सुभटों के मनोरथों के चलने के समान कठिन है।

सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्ध कवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः॥ १ ४३ ॥

विचित्र की इस दुःसचरता के कारण आलोचक इसे पसन्द नहीं करते हैं। विचित्र मार्ग का ही भ्रष्ट रूप दण्डी की गौडी रीति मानी जा सकती है। साधारण कवि के हाथ पड़ने से विचित्र मार्ग निष्फल वागाडम्बर को जन्म देता है। इसीलिए वैदर्भी या सुकुमार मार्ग अपेक्षया निरापद है। विञ्चेस्टर का कहना है कि—व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि में पार्थक्य हो सकता है, किन्तु श्रेयस्कर तो वही शैली मानी जायेगी जिसमें नैसर्गिक प्रवाह, सुभग रस तथा स्वतः सौन्दर्य से सम्पन्न रीति होती है। यह शैली प्रतिपन्न होने पर भी सपाट नहीं होती है। और न इसमें धूमिल विशेषणों का अरण्य ही मिलता है।"[१९] कुंतक इसी शैली को सुकुमार मार्ग कहते हैं।

हम संक्षेप में, कुंतक के तीनो मार्गों की विशेषताओं को देखें। उनका पहला मार्ग है सुकुमार मार्ग, उन्होंने दण्डी की वैदर्भी रीति के एक गुण सुकुमारता के आधार पर अपने सुकुमार मार्ग का नामकरण किया है। इसके अतिरिक्त लावण्यगुण की व्याख्या में भी वे सुकुमार का उल्लेख करते हैं। 'शब्दार्थसौकुमार्यसुभग सन्निवेशमहिमा लावण्याख्यो गुण' कथ्यते'[२०] सुकुमार मार्ग नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द और अर्थ से मनोहर रहता है। इसमें अलंकार प्रयत्नविरचित नहीं होते हैं। कवि आहार्य कौशल की पूरी उपेक्षा करता है और इसमें पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता होती है। विधाता के वैदग्ध्य

---

१८. 'सम कान्सेप्ट्स अव् अलंकार शास्त्र', पृ० १६२।

१९. सम प्रिंसिपल्स अव् लिटररी क्रिटिसिज्म—मैकमिलन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९२५ पृ० २२५।

२०. हि० वक्रो० ११८।

से उत्पन्न सृष्टि के अलौकिक सौंदर्य के अतिशय के समान अविभावित रूप से, स्थित से आह्लादित करने वाला होता है। जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिमा से उत्पन्न हो सकता है, वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ इस मार्ग में शोभित होता है। इसकी स्तुति करते हुए कुंतक कहते हैं कि यह वह मार्ग है जिस पर खिले हुए पुष्पों के वन में भ्रमरों के समान सभी सत्कवि जाते हैं (हि० वक्रो० १ २५-९)। वाल्मीकि तथा कालिदास जैसे कवि सुकुमार माग के प्रतिनिधि कवि हैं। सरसना, रसावहता तथा स्वाभाविकता इस मार्ग की विशेषताएं हैं। इसमें कवि नाना रसों का सुन्दर समन्वय करता है, नैसर्गिक रूप से प्रकृति का वर्णन करता है, छोटे छोटे पदों की योजना करता है और उनका अर्थ तुरत ही कौंध जाता है। सूरदास तथा जयशंकर प्रसाद सुकुमार मार्ग के कवि हैं। इस मार्ग की शोभा सहज होती है।

विचित्र मार्ग के कवि की प्रतिमा के प्रथम विलास के समय ही शब्द और अर्थ के भीतर कुछ अपूर्व वक्रता स्फुटित होती हुई सी प्रतीत होने लगती है। इस मार्ग का कवि अलंकारों की पच्चीकारी और मीनाकारी करता है। एक अलंकार का प्रभाव अभी मन से हटा नहीं कि दूसरा अलंकार अपनी प्रभुता जमाने के लिए आ बैठता है—एक अलंकार दूसरे अलंकार के उपनिबंधन का कारण बनता है। इस मार्ग का कवि वस्तु की नवीन उद्भावना नहीं करता प्रत्युत पुराने कवियों द्वारा वर्णित अनूतन वस्तु ही रचयिता के किंचित कौशल के स्पर्श से सौंदर्य की पराकाष्ठाप्राप्ति कर लेती है। कवि नूतन अर्थ की योजना नहीं करता है, केवल उक्ति की विचित्रता ही अलंकार वस्तु को लोकोत्तर कोटि में पहुँचा देती है। इसमें कवि वाच्य-वाचक से भिन्न वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की योजना करता है। वक्रोक्ति का वैचित्र्य इस मार्ग का 'जीवित' है। कुंतक इस मार्ग की दुरूहता से परिचित हैं। उनके शब्दों में सुभटों के मनोरथ जैसे खड्गधारा के मार्ग पर चलते हैं इसी प्रकार चतुर कवि ही इस विचित्र मार्ग का अनुसरण करते हैं (हि० वक्रो० १॥३४-४३॥)। भवभूति और बाण इसी विचित्र मार्ग के कवि हैं। हिन्दी में निराला को विचित्र मार्ग से ही प्रेम था। नाना रंग बिरंगे रत्नों से विजड़ित आभूषण जैसा प्रभाव यह मार्ग उत्पन्न करता है। अत्यधिक सजावट, प्रयत्न विरचित अलंकरण, बाह्य चाकचिक्य, उक्ति वैचित्र्य आदि इस मार्ग की विशेषताएँ हैं।

कुंतक का तीसरा मार्ग मध्यम मार्ग है। इसमें पूर्वोक्त दोनों मार्गों की विशेषताएँ परस्पर स्पर्धा करती हैं, न कम न अधिक। यह मार्ग सौकुमार्य और वैचित्र्य की एकत्र स्थिति के कारण सहज और आहार्य दोनों प्रकार की शोभाओं से युक्त होता है। यहाँ माधुर्यादि गुणसमूह मध्यमा वृत्ति के आश्रित होते हैं। नाना रुचियों से मनोहर इस मध्यम

मार्ग में छायावैचित्र्य की रंजकता रहती है (हि० वक्रो० १॥४९—५२॥)। कुछ कवियों का यह स्वभाव होता है कि उन्हें न तो केवल स्वाभाविक सौंदर्य से ही पूर्ण तृप्ति होती है और न मात्र अलंकारों के अतिशय उपनिबन्धन से ही आत्मपद का लाभ होता है। इन दोनों के संतुलन में ही उन्हें वास्तविक तोष मिलता है। कुंतक ने इस मार्ग के कवियों में मातृगुप्त, मायूराज और मञ्जीर आदि का उल्लेख किया है। इन कवियों की रचनाएँ अब अप्राप्य हैं।

हालाँकि रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन वामनने किया है किन्तु रीति सिद्धान्त के सबसे बड़े पुरोधा स्वय कुंतक हैं। वे पुरानी भौगोलिक अभिधाओं का पूर्ण तिरस्कार करते हैं और सस्कृत के महाकवियों के लक्ष्य ग्रन्थों को ध्यान में रखकर अपने मार्गों का शास्त्र-निरूपण करते हैं। वे एकमात्र भारतीय आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्टतया रीति को कविस्वभाव से जोड़ दिया और रीति को कवि के व्यक्तित्व से संबद्ध बतलाया। स्वभाव के आधार पर रीतियों के वर्गीकरण करने के पहले कुंतक रीतियों के भौगोलिक वर्गीकरण का उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि रीतियों को देश-भेद के आधार पर मानने से तो देशों के अनंत होने से रीतिभेदों की भी अनतता होगी। और देश विशेष के व्यवहार के आधार पर ममेरी बहन के विवाह के समान विशिष्ट रीति से युक्त रूप में काव्य-रचना की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। कुंतक कहते हैं कि चूंकि देश धर्म केवल वृद्धों की व्यवहार-परम्परा पर आश्रित है इसलिए उसका अनुष्ठान उस देश में अशक्य नहीं है। परन्तु उस प्रकार की सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य-रचना शक्ति आदि कारणसमुदाय की पूर्णतया अपेक्षा रखती है। इसलिए देश-धर्म की तरह जैसे-तैसे काव्य-रचना नहीं की जा सकती है।२१ कुंतक की विलक्षण प्रतिभा शक्ति आदि काव्य हेतु को देश-धर्म के परिप्रेक्ष्य में परीक्षित करती है। वे स्पष्ट करते हैं कि व्युत्पत्तादि कारण-सामग्री को किसी देश विशेष में सीमित नहीं किया जा सकता है। इसलिए देश विशेष के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों का मानना उचित नहीं है।२२

इसके बाद कुंतक रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम आदि भेदों का परीक्षण करते हैं। उनके अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम रूप से रीतियों का वैविध्य स्थापित करना भी अनुचित है। कारण यह है कि अन्य भेदों में वैदर्भी के समान सौंदर्य असंभव होने से

---

२१. हिन्दी वक्रो०, ९९।
२२. वही, १००।

मध्यम और अधम उपदेश व्यर्थ हो जाता है।२३ कुंतक कुकाव्य की रचना का ही पूर्ण तिरस्कार करते हैं। वे झुँझला कर लिखते हैं कि यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि जितनी शक्ति हो उसके अनुसार दरिद्रों के दान करने के समान यथाशक्ति कविता की रचना की जाए—'न चागतिकगतिन्यायेन यथाशक्ति दरिद्रदानादिवत् काव्यं करणीयतामर्हति।'२४ इस प्रकार उनके अनुसार वामन आदि ने रीतियों के जो उत्तम, मध्यम और अधम आदि तीन भेद किए हैं, वे अनुचित हैं।२५ वस्तुतः कुंतक का वामन आदि से मतभेद मात्र नामगत नहीं बल्कि स्वरूपगत है। इसलिए यह मतभेद बुनियादी है। यों देश विशेष के आश्रय से रीतियों के नामकरण के विषय में उनका विवाद नहीं है। 'तदेवं निर्वचनसमाख्यामात्रकरणकारणत्वे देशविशेषाश्रयणस्य वयं न विवदामहे।'२६ वे देश भेद के आधार पर रीति का भेद मानने जैसी निःसार वस्तु की अधिक आलोचना व्यर्थ समझते हैं।२७

इस प्रकार कुंतक ने रीति के भौगोलिक आधार का प्रत्याख्यान कर उसे कवि-स्वभाव से संबद्ध किया। वे जीवन में स्वभाव की महिमा को स्पष्टतः स्वीकारते हैं—'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।' स्वभाव ही मनुष्य का आपा है। यही उसका वास्तविक अस्तित्व है। उनका कहना है कि काव्य रचना की बात छोड़ दें, तो भी, अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उपकार्य-उपकारक भाव से स्थित होते हैं। इसलिए इन दोनों को उत्पन्न करता है—और ये (व्युत्पत्ति यथा अभ्यास) स्वभाव को परिपुष्ट करते हैं। कवि तो चेतन प्राणी होता है। इसलिए स्वभाव का महत्व तो उसके जीवन में है ही। किन्तु कुंतक की विलक्षण प्रतिभा यह उचित ही रहस्योद्घाटन करती है कि स्वभाव अचेतन पदार्थों में भी होता है। वे कहते हैं कि अचेतन पदार्थों का स्वभाव भी अपने स्वभाव के अनुरूप अन्य पदार्थों के सन्निधान के प्रभाव से अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वे उदाहरण देते हैं कि चन्द्रकान्त मणियां चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श मात्र से स्वाभाविक रूप से जल को प्रवाहित करने लगती हैं।२८

---

२३. हि० वक्रो०, १००।
२४. वही, १००।
२५. वही, १०१।
२६. वही, १०१।
२७. वही, १०१।
२८. वही, १०७।

इस प्रकार कवि की शक्ति उसके स्वभाव के अनुरूप होती है उसकी व्युत्पत्ति स्वभाव के अनुकूल ही प्राप्त होती है और उसका अभ्यास उसके स्वभाव के अनुसार चलता है। इसी अर्थ में शैली सचमुच ही मनुष्य होती है।

इसीलिए कुंतक की स्थापना है कि कवियों के स्वभाव भेद के आधार पर ही किया गया काव्य-मार्ग का भेद युक्ति संगत हो सकता है। शक्ति और शक्तिमान् दो नहीं प्रत्युत एक होते हैं—'शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।'२९ अतः सुकुमार स्वभाव के कवि में उसी प्रकार की सहज शक्ति उत्पन्न होती है। उस सहज सुकुमार शक्ति से वह उस प्रकार की सहज सौकुमार्य से रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप अभ्यास में वह तत्पर होता है। उसी प्रकार जिस कवि का वैचित्र्य से रमणीय स्वभाव होता है उसको उसी प्रकार की शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की प्राप्ति होती है। मध्यम मार्ग के कवि की भी यही स्थिति है।

कुंतक स्वभाव के आनंत्य से परिचित हैं, पर वे मानते हैं कि उनकी गणना असंभव होने से साधारणत त्रैविध्य ही युक्तिसंगत है। वे भामह की तरह किसी एक मार्ग को श्रेष्ठ नहीं बतलाते हैं। उत्तम, अधम आदि की त्रुटियों से उनका विवेचन पूरी तरह मुक्त है। उनका कहना है कि इन तीनों में अलग-अलग ढंग से निर्दोष स्वभाव से तद्विदाह्लादकारित्व की पूर्णता होने से किसी की भी न्यूनता नहीं है। ये तीनों ही भेद उत्तम काव्य हो सकते हैं।३० कुंतक के इस कथन को देखकर अमरीकी विद्वान जान बौरो की याद आ जाना स्वाभाविक ही है। वह कहता है—"कौन बतला सकता है कि कौन सी शैली सबसे अच्छी है? अपने उद्देश्य के अनुरूप वेग से फेंके गए भाले की तरह सीधे और समतल वाक्यों से गठित हक्सले की शैली से अच्छी कौन-सी शैली हो सकती है? अथवा विद्युत् की चिनगारी से पूर्ण, आकस्मिक रूप से आने वाले विशेषणों और तनावयुक्त ढीठ शब्दावली से मन को प्रीतिकर आघात देनेवाली इमर्सन की शैली अथवा इमारत के कटे-छँटे पत्थरों की तरह सुगठित वाक्यविधानवाली गिबन की शैली जैसा कि उसके विषय में कारलाइल ने इमर्सन से कहा था कि उसकी रचना उस भव्य सेतु की तरह है जो पुरानी दुनिया को नयी दुनिया से जोड़ती है—अथवा डी-क्विन्सी की चंचल, घुमावदार शैली। विचारों को हाँकती हुई जैसे कुत्ता भेड़ को हाँकता है? अथवा अर्नाल्ड की शैक्षणिक दृष्टि से—काँच की तरह पारदर्शी शैली—कौन कह सकता है कि इनमें सबसे अच्छी कौन

२९. हि० वक्रो०, १०१।
३०. वही, १०२।

है ?"३१ यही बात तो कुंतक अधिक सुष्ठुता से कहते हैं। इस प्रकार वे सभी प्रकार की रीतियों को समान क्षम मानते हैं।

कवि स्वभाव के साथ हम रीतिके संबन्ध को तनिक और स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दस गुण और उतने ही दोषों का उल्लेख किया है। इनका बुनियादी आधार शब्द और अर्थ का अभियोजन रहा है। भामह ने देखा कि ये सभी गुण कवि के स्वभाव के साथ कोई तात्त्विक सम्बन्ध नहीं रखते हैं। जो गुण कवि के स्वभाव के साथ तात्त्विक संबन्ध नहीं रखते थे, भामह ने उनका परित्याग कर दिया। उसने उन्हीं तीन गुणों को स्वीकार किया जिनका कविस्वभाव के साथ अपरिहार्य सम्बन्ध है। ये गुण माधुर्य, ओज और प्रसाद हैं। ये ही तीन गुण रीतियों से संबद्ध बताए गए। ये गुण केवल पद रचना से ही संबन्ध नहीं रखते हैं। प्रसाद केवल स्पष्ट और बोधगम्य पद-रचना नहीं है। इसका सम्बन्ध प्रसन्न मुद्रा से भी है। इसी स्पष्ट चिंतन के कारण भामह ने रीति के क्षेत्र में भी पुराणपंथ का अतिक्रमण किया। उन्होंने वैदर्भी और गौडी की सी सीमाओं का निर्देश कर अपने प्रौढ़ि प्रकर्ष का परिचय दिया है।

रीति शब्द शरीर के रूप में परीक्षित होती है क्योंकि बुनियादी तौर पर यह शब्द संघटना है। गहराई में प्रवेश करने पर यह स्वभाव का रहस्य खोलती है। और भी गहरे उतरने पर यह निजी शैली बनकर उपस्थित होती है और व्यक्तित्व का सूक्ष्म उद्घाटन करती है। यदि दो कवि वैदर्भी रीति का ही प्रयोग कर रहे हों तब भी दोनों की वैदर्भी एक नहीं होगी। सूरदास और जयशंकर प्रसाद दोनों ही वैदर्भी रीति के ही कवि हैं तब भी दोनों की वैदर्भी में स्पष्ट पार्थक्य है। निश्चय ही भारतीय-काव्यशास्त्र ने इन सभी बारीकियों को समझा था। उनका रीति विवेचन किसी भी अर्थ में पुराना नहीं है।

एक नाट्यकार कवि को कई प्रकार के भावों को चित्रित करना पड़ता है। इसलिए हालाँकि उसकी रीति बृहत्तर भूमि पर एक ही रहती है, तब भी संदर्भ विशेष में, भावों के चित्रण में, उसकी रीति में सूक्ष्म परिवर्त्तन हो जाना अत्यन्त ही स्वाभाविक है। कालिदास सुकुमार मार्ग के कवि हैं, किन्तु इन्दुमती के मृत्यु-शोक में अज के विलाप का सुकुमार माग वही नहीं है जैसा 'कुमारसम्भव' के तृतीय सर्ग में संचारिणी पल्लविनी लता के समान उमा की छविच्छटा के अंकन में है। इस समस्या की कई प्रच्छन्न गुत्थियाँ हैं। एम्पसन पर विचार करते हुए एल्डर ओलसन ने जो स्पष्टीकरण किया है, उसे हम उद्धृत

---

३१. लिटररी वैल्यूज़ एण्ड अदर पेपर्स, ८७।

करना चाहेंगे। उसके अनुसार—एक नाट्यकार कवि का, किसी भी अन्य कवि की भाँति, भाषा के सम्बन्ध में सात गौण लक्षण होते है :—इन्हें गौण कहा है क्योंकि मैंने स्पष्ट कर दिया है कि ये प्रधान नहीं हो सकते हैं। अनावरण, आंशिक अनावरण, प्रच्छन्नता, अवधान का दिशा निर्देश, कौतूहल को जाग्रत रखना, आकस्मिक घटना की योजना और अलंकरण—ये ही सात उद्देश्य हैं। क्या अनावृत्त हो, क्या प्रच्छन्न रहे आदि काव्यशास्त्र के कथानक, पात्र और भावभूमि आदि से संबद्ध हैं और उनका विश्लेषण' यहाँ नहीं किया जा सकता। सम्प्रति हमारा सम्बन्ध इन लक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में भाषा के क्रिया कलापों की सार्थकता से है। कौतूहल, विस्मय और आवेग के बहुलांश मात्र रीति से नहीं प्रत्युत कुछ और वस्तु से उद्भिन्न होते है। तथापि रीति द्वारा इनका उन्नयन हो सकता है और कभी-कभी सृजन भी होता है। काव्य भाषा के इसी पहलू की—रीति को रीति के रूप में—मैं परीक्षा करना चाहता हूँ। इसकी समस्याएँ शब्द-चयन और शब्द-विन्यास की समस्याएँ हैं। रीति की समस्या, उदाहरण के लिए केवल यही नहीं है कि कैसे एक भयभीत आदमी बात करेगा अथवा कैसे सामान्यतया भाषा स्वभाव, आवेग अथवा स्थिति को इंगित करती है प्रत्युत यह है कि भाषा के इन सभी नियामकों के होते हुए शब्द किस तरह सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे। चूंकि कविता में शब्दों का सभी इतर तत्वों से नियमन होता है इसलिए, जैसा कि मैंने कहा है, एक अर्थ में यह काव्यशास्त्र का सबसे कम महत्वपूर्ण अंश है किन्तु दूसरी दृष्टि से यह सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि हमारे मार्ग दर्शक तो केवल शब्द हैं, मात्र वे ही कविता के रहस्य का उद्घाटन करते हैं।"३२

ओलसन के विश्लेषण का भारतीय काव्यशास्त्र से अनन्य साधारण साम्य है। भाव को शब्द ही मूर्त करते हैं। वे ही कविता के रहस्य तक पहुँचाने में हमारे सहायक हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की इस बात से पूर्ण सहमति होगी। ओलसन जब रीति को शब्द-चयन और शब्द-विन्यास कहते हैं तब वे अनजान रूप से 'शब्द सघटना ही रीति है' की प्रतिध्वनि करते हैं। राजशेखर ने वचन-विन्यास-क्रम को रीति कहा भी है।३३ ओलसन जब यह कहते हैं कि भाषा के सभी इतर नियामकों के संदर्भ में शब्द को सबसे अधिक प्रभावशाली होना ही है, तब भारतीय काव्यशास्त्र उनसे पूर्ण सहमति प्रकट करता है। किन्तु, ओलसन

---

३२. "विलियम एम्पसन", कान्टेम्परेरी क्रिटिसिज्म एण्ड पोइटिक डिक्शन, "मोडर्न फिलासफी", मई, १९५०, पृ० २४४।

३३. काव्यमीमांसा।

का यह कहना कि कभी कभी रीति वस्तु का सृजन भी करती है, हमें उलझन में डाल देता है। इससे रीति काव्य की आत्मा बन जाती है और हम उनका सादृश्य वामन में पाते हैं। किन्तु यह अतिवाद पर चला जाना है। यह ख्याल रखने की बात है कि रीति पूर्णतः स्वायत्त नहीं होती है। यह अंततः कवि प्रस्थान का मार्ग ही है। इसलिए भोज ने रीति शब्द की निष्पत्ति गमनार्थक 'रीङ' धातु से बतायी है। तात्पर्य यह कि जिससे जाया जाय या चला जाय वह रीति है।

"रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते—स० क० २॥२६॥।" अतः रीति का अस्तित्व तभी संभव है जब वह वस्तु खोज लेती है और वस्तु का भी अस्तित्व तभी संभव है जब वह रीति पा लेती है। रीति वस्तु का सृजन नहीं करती है केवल उसका संधान करती है। रीति और वस्तु के संबन्ध की यही युक्तिसंगत मीमांसा हो सकती है।

रचयिता से जो अपेक्षा की जाती है वह बहुत ही संश्लिष्ट होती है। ओज गुण का संबन्ध वीर, अद्भुत और रौद्र रस से माना गया है। लेकिन परम्पराभुक्त रूप से इसका संबन्ध गौडी रीति से भी माना जाता रहा है। गौडी दीर्घसमासा रचना मानी गयी है। लेकिन आनन्दवर्धन कहते हैं कि असमास रचना भी ओज का आश्रय हो सकती है क्योंकि रौद्रादि रसों को प्रकाशित करने वाली दीप्ति का ही तो नाम ओज है। वे स्पष्ट करते हैं कि वह दीप्ति रूप ओज यदि समास रहित रचना में भी रहे तो क्या दोष है। 'तच्चौजो यद्यसमासायामपि संघटनायां स्यात, तत्को दोषो भवेत्'।३४ आनन्दवर्धन अपने विचार को पुष्ट करने के लिए यहां भट्ट नारायण के श्लोक को उद्धृत करतेहैं। इस प्रकार वे यह प्रमाणित करते हैं कि गुण का सम्बन्ध संघटना से नहीं प्रत्युत चित्तवृत्ति से होता है। इसलिए गौडी को वीर, अद्भुत और रौद्र रसों तक ही सीमित कर देना गलत है। कुंतक ने बतलाया है कि सामान्यतया व्युत्पत्ति विचित्र मार्ग के कवि से सिद्ध होती है, किन्तु सुकुमार मार्ग का कवि भी व्युत्पत्ति को अपने मसृण प्रवाह में उपस्थित करता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं।३५ इसलिए किसी एक रीतिको श्रेष्ठ बतलाना भूल है। साधारणतः दर्शन की गरिष्ठता को विचित्र मार्ग ही आत्मसात् कर सकता है। निराला विचित्र मार्ग के सधे हुए कवि हैं और उनकी कविताओं में अवगाह-

---

३४. हिन्दी ध्वन्यालोक, २३९।

३५. हि० वक्रो०, ११८।

जगह दार्शनिक उपपत्तियों का आस्फालन मिलता है। किन्तु सुकुमार मार्ग के कवि जयशंकर प्रसाद में दार्शनिक चिंतनाएँ भाषा के मसृण प्रवाह में खूब निखरी हैं। यथा :—

'नीचे जल था ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।"३६

अथवा

"चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग,
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्
यह रूप बदलता है शत् शत् ,
कण-विरह मिलनमय नृत्य-निरत
उल्लास पूर्ण आनन्द सतत ,
तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल जाग-जाग।"३७

इस प्रकार कुंतक ने न केवल रीति को वर्ण योजना में ही सीमित किया प्रत्युत किसी भी एक रीति की श्रेष्ठता न प्रतिपादित करते हुए उसे कवि के स्वभाव से जोड़ दिया।

आनन्दवर्धन से भी पहले माघ ने बतलाया है कि गुणों का संबन्ध मनोवैज्ञानिक यथार्थ से है। वे गुणों को रसभाव का आश्रित बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जिस कवि को रस और भाव का ज्ञान रहता है वह न तो मात्र ओज का कवि रहता है और न मात्र प्रसाद का। इसके अतिरिक्त माघ ओज को संघटनाश्रित न बतला कर तेज जैसे आत्मिक गुण से युक्त बतलाते हैं। उसी प्रकार प्रसाद में वे क्षमा की आभ्यंतरिक प्रशान्ति का दर्शन करते हैं। निश्चय ही प्रसाद प्रशांत मन की विच्छित्ति है।

---

३६. कामायनी, ३।
३७. वही, २४२।

"तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः, प्रसादो वा रसभावविद् कवेः॥ शि० व० २॥८३॥

इस प्रकार माघ रीति के गुणों को रस और भाव से नियमित बतलाते हैं।

यही दृष्टि मम्मट की भी है। उनका कहना है कि जिस प्रकार शरीर में प्रधानतया विराजमान आत्मा के शौर्य आदि धर्म आत्मा के साथ नियतावस्थित रहा करते हैं और आत्मतत्त्व की ही श्रीवृद्धि किया करते हैं। उसी प्रकार काव्य में मुख्यतया माधुर्य, ओज और प्रसाद, रूप धर्म रस के साथ नियमत. अवस्थित रहते हुए रस-तत्त्व की ही श्रीवृद्धि किया करते हैं और इसीलिए रस के गुण कहे जाते हैं (का० प्र० ८॥६६॥)। मम्मट स्पष्टतया कहते हैं कि ये रस के ही गुण हैं न कि वर्णों के, क्योंकि शौर्य आदि धर्म भी तो आत्मा के ही गुण हुआ करते हैं, न कि शरीर के।३८ इस प्रकार मम्मट के अनुसार ओज वह गुण है जिसे सामाजिक के हृदय का प्रज्वलन कहा जा सकता है और जिससे ऐसा लगा करता है जैसे चित्त की सारी शीतलता अकस्मात् नष्ट हो गयी हो और चित्त उद्दीप्त हो उठा हो इसमें चित्त का विस्तार होता है (का० प्र० ८॥६९॥)। उसी प्रकार प्रसाद गुण सभी रसों का ऐसा धर्म है जिससे सामाजिक का हृदय उस प्रकार व्याप्त हो उठता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा सूखा इंधन अथवा जल के द्वारा साफ़ कपड़ा (का० प्र० ८॥७०॥)। उसी प्रकार माधुर्य चित्त की द्रुति है (का० प्र० ८॥६८॥)। इसी प्रकार विश्वनाथ ने रीति को परिभाषित करते हुए उसे ऐसी पद-संघटना कहा है जो कि रसभावादि की अभिव्यंजना में सहायक हुआ करती है। 'पदसंघटना रीतिरङ्ग संस्था विशेशवत्। उपकर्त्री रसादीनां' (सा० द० ८॥१॥)।

इस प्रकार कुंतक ने मार्गों को कविस्वभाव से संबद्ध कर काव्य में कवि के व्यक्तित्व को प्रतिष्ठा की। कवि का स्वभाव उसकी रचना में अभिव्यक्त होता है। क्या यह रचयिता के व्यक्तित्व, उसकी आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं है? इन शब्दों में कुंतक आखिर और क्या कहते हैं 'आस्तां तावत्काव्यकरणम् विषयान्तरेऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासनाभ्यासाधि-वासितचेतस. स्वभावानुसारिणावेव व्युत्पत्यभ्यासौ प्रवर्तते। तौ च स्वभावाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः'।३९ कुंतक शैली के आनंत्य को स्वीकार करते हैं। शैली संबन्धी आधुनिक

---

३८. काव्य प्रकाश (डा० सत्यव्रत सिंह), २८३।

३९. हि० वक्रो०, १०३।

चिंतन में कुंतक की ही प्रतिध्वनि सी सुनायी पड़ती है। जान बौरी के अनुसार—"मनुष्य की चित्तवृत्ति (मूड) और स्वभाव (टेम्पर) के जितने प्रकार हो सकते हैं उतनी शैलियाँ भी होती हैं।"[४०] स्वभाव की इस महिमा को बहुत पहले लोंगिनुस ने भी समझा था। उसके शब्दों में—"सबसे महत्वपूर्ण बात स्मरण रखने की यह है कि अभिव्यक्ति के कुछ तत्त्व प्रकृति के ही आश्रित हैं।"[४१] यही चिंतन कुंतक में आकर नयी चिंतना का गवाक्ष खोलता है। रीति विषयक चिंतन आज भी इससे आगे नहीं गया है। वे रीति के इतिहास के बहुत बड़े नाम हैं।
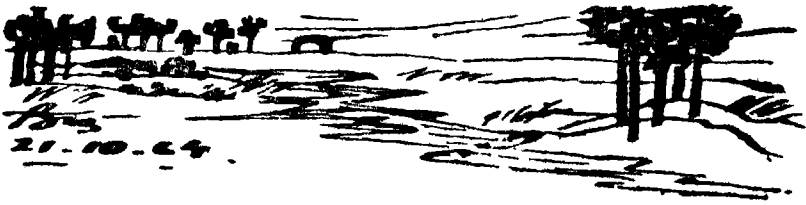
४०. लिटररी वैल्यूज़ एण्ड अदर पेपर्स, ८६।

४१. काव्य में उदात्त तत्त्व, ४६।

कुतुबशतक—काव्य और दर्शन

कन्हैया सिंह

'कुतुबशतक'[1] सन् १५०० ई० के आसपास की एक प्रेमाख्यानक रचना है। यह रचना आकार में अत्यन्त लघु है पर कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा हिन्दुई अथवा पुरानी खड़ी बोली का साहित्यिक स्वरूप उपलब्ध कराने में सफल हुई है जिसका विस्तृत विश्लेषण डा० माताप्रसाद गुप्त ने स्वसंपादित ग्रंथ की भूमिका में किया है। पर काव्य तथा दर्शन की दृष्टि से भी यह रचना कुछ ऐसी विशेषताओं से युक्त है जिनका अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण है। यह रचना अपनी रूप रचना में उत्तरी भारत के हिन्दी सूफ़ी प्रेमाख्यानों से भिन्न है। इसमें प्रारंभ में ईश्वर स्तुति, शाहेवक्त की प्रशंसा, हजरत मोहम्मद आदि की चर्चा के औपचारिक तथा रूढ़ प्रसंग नहीं है और रचनाका प्रारंभ कथा के द्वारा सीधे हो जाता है। दूसरे इस रचना में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया है। कुछ गद्य अंश के बाद दोहे मिलते हैं। यह बात भी उत्तरी सूफ़ी प्रेमाख्यानों से सर्वथा भिन्न है। तीसरे इसकी कथा में वर्णनात्मक प्रसंगों का बिल्कुल ही विस्तार नहीं किया गया है। वस्तुवर्णन, बारहमासा, नायक नायिकाके मिलन मार्ग का प्रयत्न विस्तार आदि कुछ भी इसमें नहीं है। नखशिखवर्णन है पर बहुत संक्षिप्त है। इन दृष्टियों से यह रचना अपने ढगकी नई प्रेमाख्यानक कृति है।

हिन्दी के सूफ़ीतर प्रेमाख्यानों में लक्ष्मणसेन पद्मावती (दामो कृत) गद्य-पद्य मिश्रित रचना है।[2] पर इसमें गद्य अ श अत्यल्प हैं। पद्य में चौपाइयाँ और दोहे पर्याप्त हैं। दक्खिनी की मुल्लावजही कृत सबरस में गद्य अश अधिक हैं पद्य के रूप में 'बैत' या दोहे आए हैं।[3] कुतुबशतक का रूप कुछ इससे मिलता है। कुतुबशतक में हिन्दू धर्म तथा जीवन के तत्वों का अभाव तथा सूफ़ी तत्वों के स्पष्ट सकेतों का भी अभाव है। कुतुबशतक की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ, जिनके आधार पर उसका पाठ-निर्माण हुआ है, बीकानेर, जोधपुर और उदयपुर में प्राप्त हुई हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि इसका कवि उत्तरप्रदेश के पूर्वीभाग या बिहार के उस भाग से संबधित नहीं रहा होगा जहाँ से उत्तरी धारा के अधिकांश सूफ़ी कवियों का सबंध था।

इस रचना के अध्ययन से इतना निश्चित प्रतीत होता है कि यह एक सूफ़ी ढग की रचना

---

१. स० माताप्रसाद गुप्त, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।

२. भारतीय साहित्य (१९५९) वर्ष ४, अं० ४ (उदयशंकर शास्त्री का पाठ)।

३. श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिन्दीका पद्य और गद्य, पृ० ४०३।

है। दावर दामिशमन्द की कन्या साहिबा और फिरोजशाह के शाहजादे कुतुब के प्रेम को लेकर यह कथा प्रारंभ होती है। दावर की ढाढ़िनी देवर माध्यम बनकर मालिन वेश में शाहजादे के पास पहुँचती है और सुअवसर निकाल कर युक्तिपूर्वक साहिबा के रूप सौन्दर्य का वर्णन नखशिखवर्णन के रूप में करती है। शाहजादा उसे देखने को लालायित हो उठता है। इस पर ढाढ़िनी उससे कहती है कि वह शाहजादे को मिल सकती है यदि वह फकीर बनकर दावर के पास जुमेरात को पहुँचे और अन्य फकीरों की भाँति उबले हुए चावलों की भिक्षा माँगे।[४]

कथा का यह भाग संक्षिप्त होते हुए भी मूलरूप से सूफ़ी प्रेमाख्यानों से मिलता जुलता ही है। ढाढ़िनी का नखशिखवर्णन अन्य प्रेमाख्यानों की भाँति ही केशों से प्रारम्भ होकर क्रमशः नीचे के अंगों की ओर आता है। नखशिख में ग्रहण की गई उक्तियों में कुछ नवीनताएँ हैं जो सरस और सुन्दर बन पड़ी हैं। बाल कुछ कसकर बँधे हैं, कुछ खुले हैं जिन्हें देखकर लगता है कि सर्पिणी अपने चलते फिरते बच्चों को खा रही है :

केसा के कसि बंधियां, के छुट्टियां रुलंति।
जाणे सर्पनि अप्पणा, चर चिट्ठुआ भखंति॥
(कुतब० छं० ११)

हृदय पर उमड़े हुए अंगिया के अंदर नारंगी के समान दीखने वाले उरोजों के वर्णन में स्वाभाविकता और सरसता तो है पर कोई नवीनता नहीं है। पैरों के सौन्दर्य के संबंधमें वह कहती है

पाइ स रत्तां पंकजां अढ्ढी अंगुलियाह।
जाणे राई बेल्यिां फूली निकलियाह॥
(कुतुब० छं० १६)

रक्त कमल के समान चरण और राई की बेलि में फली के समान पतली उंगलियों की भी परंपरा मिलती है। मूंग की फली अथवा छीमी जैसी उंगलियां मृगावती[५] तथा बीसलदेवरास[६] में भी कही गई हैं। मूंग और राई की फली में समानता ही है। इसका अभिप्राय पतली उंगलियों से है।

---

४. मा० प्र० गुप्त : कुतुबशतक, छं० १-१९।

५. करपालौ जनु मूंग कि छीमी। मा० प्र० गुप्त, मृगावती, छं० ६४।

६. मूंगफली जिसी आंगुली। मा० प्र० गुप्त, बीसलदेव रास, छं० ११३।

डाकिनी के निर्देशानुसार वह दरवेश के रूप में साहिबा का दर्शन पाता है और राजमहल में लौटने पर वह बीमार पड़ जाता है। कोई उपचार काम नहीं करता। डाकिनी वैद्या के रूप में वहाँ आकर जब उसे बताती है कि साहिबा के हृदय में वह हंस बन कर केलि कर रहा है तो उसे आराम मिलता है। इसके बाद शाहजादेका विवाह साहिबा के साथ सम्पन्न हो जाता है। कथा के इस अंश तक सूफी प्रेमाख्यानों का स्वरूप न्यूनाधिक मात्रा में प्राप्त होता है। डाकिनी यहाँ माध्यम का कार्य उसी प्रकार करती है जैसे पद्मावत का हीरामन सुआ करता है। दर्शन पाने के लिए दरवेश बनाना भी सूफ़ी प्रेमाख्यानों के नायकों के योगी बनने के समान ही है। दर्शन पाकर विरह भाव के प्रकोप से बीमार हो जाना भी इन प्रेमाख्यानों की सामान्य रूढ़ि है जिसका एकमात्र उपचार प्रिय मिलन या प्रिय मिलन का आश्वासन ही होता है। इतना अवश्य है कि प्रस्तुत रचना में प्रसंगों का विस्तार नहीं है। प्रिय की प्राप्ति में जो कष्ट अन्य नायकों को उठाने पड़ते हैं उसका स्वरूप यहाँ नहीं मिलता है। इसका कारण कदाचित् यही है कि यहाँ कवि हर प्रसंग को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है और इसी कारण रचना का रूप भी लघु ही है।

इस रचना का प्रतिपाद्य प्रेम ही है। दो दिलों के मिलन की बात ही बार बार वैद्या रूप में डाकिनी कहती है। यदि इन दो दिलों का मिलन तत्काल ही नहीं होगा तो न साहिबा रहेगी न शाहजादा :

सो दिल दिल अजाइ मलइ तउ मिलि मंगल गाउ।
न त साहिजां न साहिबां जं धावणा सुधाउ॥

(कुतुब० छं० ७०)

दोनों के विवाह के उपरान्त कवि ने उनकी केलि का वर्णन भी किया है। पर अन्य सूफ़ी कवियों की भाँति इस प्रसंग में भी उसने विस्तार नहीं किया है। यहाँ भी वह अपनी निजी संकेत शैली का अनुगमन करता है। विवाह के उपरान्त रति-उक्तियों (रत्ति उकत्तियाँ) को दूसरे दिन कहने की बात कही गई है क्योंकि मध्य में प्रथम मिलन की यामिनी है। उसके उपरांत ही केलि और क्रीड़ा का वर्णन होगा। लेकिन उसको विस्तार न देकर संकेत में ही कवि कहता है ·

के दिन केही केलियां के दिन केही केलि।
दरिया हिया तरंगिया कउण गिलदा वेलि॥

(कुतुब० छं० ८७)

केलि-प्रसंग को स्थूल विस्तार न देते हुए भी कवि का यह कथन कितना सांकेतिक और काव्यपूर्ण

है कि दरिया और हृदय की तरंगों को तथा उनकी केलि क्रीड़ाओं को कौन गिन सकता है। इनका मिलन सूर्य और चन्द्र का मिलन है :

जादे जा दिन अगगला साहिब सा दिन रूप।
सईमुइ सोम बिलग्गीया तो न बुभदा धूप॥

(कुतुब० ८८)

पद्मावत आदि में भी नायक और नायिका पूर्ण-चांद कहे गए हैं :

चांद सुरुज सिउं होइ बिआहू। बारि बिधाँ सब बेधब राहू।

अथवा

पुनि चलि सुरुज चांद पहआवा। चांद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा।

(पदमावत छ० १९७)

चांद और सूर्य के ये प्रतीक हठयोगियों से लिए गए बताए जाते हैं। जो भी हो इस प्रतीक का ग्रहण भी प्रस्तुत रचना में अन्य सूफी प्रेमाख्यानों के समान ही किया गया है। इससे यह भी पता चलता है कि अन्य सूफ़ी प्रेमाख्यानों की भाँति इस रचना में भी योग और सूफी प्रेम मार्ग का एक समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

कुतुबशतक के उत्तरार्द्ध में दो गायिकाएँ योगिनी और भोगिनी के रूप में आती हैं और वे अपने अपने पक्ष के समर्थन में दूहे कहती हैं। ये दूहे नेत्रों के संबंध में कहे गए हैं और इनकी संख्या कुल नौ ही है जिनमें पाँच भोगिनी और चार जोगिनी के द्वारा कहे गए हैं। इस प्रसंग में कवि का अभिप्राय तो निश्चित रूप से योग और भोग (प्रेम) की सापेक्ष्य महत्ता का कथन ही है पर इसके लिए भी उसने सांकेतिक शैली का अनुगमन किया है। भोगिनी कहती है :

लोयन ते लोईं दिए जे दिट्ठा ही पिट्ठ।
पाथर सर जिम कढढीइ नेह समट्ठा निट्ठ॥

(कुतुब० छं० ९२)

अर्थात् लोचन तो वे देखते हुए होते हैं जो दीखते ही प्रविष्ट हो जाते हैं। जो लोचन स्नेह से इसप्रकार पुष्ट होते हैं उन्हें निकलना (चुभे हुए) बाण को सीधा निकालने जैसा होता है।

योगिनी इसके उत्तर में कहती है :

लोयन ते लोयंदीइ जे लो अंदे जग्ग।
अप्पा-काम कमच्छलां बहु देषंदा कग्ग॥ (कुतुब० छं० ९३)

अर्थात् लोचन वे देखते हुए होते हैं जो जगत (की वास्तविकता) को देखते हैं। अपने कर्म और कर्मछल को तो काग भी बहुत देख लेते हैं। इसी शैली में उनकी वार्ता होती है। अन्त में भोगिनी नेत्रोंकी विशेषता रंग या प्रेम करने में जब बताती है तो शाहजादे को ठंड लग जाती है और वह साहिबा से आसव माँगता है और प्याले पर प्याले पीता है। उस समय साहिबा अरगजे की भीनी सुगंधि से युक्त है। रंगीन ओढ़नी डाले है। फ़र्श पर अबीर की लाली है। तीसरा प्याला लाते समय उससे एक बहुमूल्य प्याला फूट जाता है।

यह प्रसंग कथा में वाह्य रूप से अयुक्त सा प्रतीत होता है। पर गंभीरता से विचार करने पर दिखता है कि इसके संकेतों को कविने स्वय व्यक्त कर दिया है। योगिनी और भोगिनी के सवाद की समाप्ति भोगिनी के कथन से होती है जिसमें वह नेत्रों की विशेषता प्रेम करने में बताती है। इसी को सुनकर शाहजादा को ठंढ लगना और आसव की याचना करना तथा सारे वातावरण को अनुरागरंजित चित्रित करना इस बात की प्रतीक है कि वह प्रेममार्ग का अनुसरण करता है। प्याला टूटने के कारण के सबंध में भी कवि संकेत रूप में यह कहता कि साहिबा की क्षीणकटि रतिभारसे टूटी हुई होने के कारण लचक गई जिससे प्याला टूटा (कुतुब० छं० १०३)। यह उनकी पूर्वरतिक्रीड़ा का संकेत प्रतीत होता है जिसे सूफियों ने प्रेम मार्ग की चरमोपलब्धि के रूप में चित्रित किया है। प्याला टूटने की घटना के बारे में कवि स्पष्ट कहता है

> तजइ कइ आवतइं हवाल कीन्हा।
> ते हवाल कहणा।
> जिणइ दुनिया जाणी तिणहुं का लहणा।
>
> (कुतुब० १०२)

अर्थात् इस घटना से उनलोगों को क्या लेना देना जो दुनिया की वास्तविकता को जानते हैं। बहुमूल्य प्याला भौतिकता का प्रतीक है। आसव तो सूफियों का एक मान्य प्रतीक है जो प्रेम के अर्थ में स्वीकार (किया) गया है।

इस प्याले के फूटने से साहिबा डर जाती है और उसकी सास शाहजादे से कहती है कि साहिबाने हत्या जैसा बड़ा अपराध किया है। साठ लाख के प्याले के फूटने के कारण साहिबा के डरने का समाचार पाने पर वह तीन अरब बासठ करोड़ बारह लाख के लालयुक्त प्यालों को फोड़ डालता है और उन्हें चहारदिवारी पर चुनवाकर फकीरों को लूटने का आदेश दे देता है।

यह अन्तिम घटना है और यहीं कथा समाप्त हो जाती है। यह घटना भी सांकेतिक प्रतीत होती है। इसी में कदाचित् योग और भोग के विवाद का सामञ्जस्य भी है। प्रेम मार्ग में वह इतना अनुरक्त हो गया है कि प्रेम के अतिरिक्त उसे कुछ भी नगण्य लगता है। वह धन दौलत को कुछ भी नहीं समझता। इस प्रकार भोग (प्रेम) के द्वारा वह योग की चरमोपलब्धि-त्यागवृत्ति-का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ सूफियों के प्रतिपाद्य प्रेममार्ग की सफलता की घोषणा करता है।

योग और भोग की चर्चाका यह स्वरूप इस रचना में अत्यंत मौलिक ढग से प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि अन्य सूफी प्रेमाख्यानों में भी योग और भोग की चर्चाएँ आई हैं और उनके समन्वय के साथ ही योग से भोग (प्रेम) को श्रेष्ठ प्रतिपादित करने की ध्वनि अभिव्यंजित हुई है। मृगावती में जोग जुगुति के लक्ष्य के रूप में भुगुति को बताया गया है:

जोग जुगुति होइ खेला मारग सीस होइ कहँ जाइ।
भुगुति मोर मिरगावति भीखदेइ कोइ आइ॥
(मृ० छ० ११६)

जायसीने लिखा है कि प्रेमके कारण ही तपस्वी तप साधते हैं और मनको बाँधते है: तेहि कारन तपसी तप साधहि करहिं पेम मनबध (पद्मा० छं० १९४)। रत्नसेन और पद्मावती के मिलन के उपरान्त सखियों से पद्मावती कहती है. चौरासी आसन वर जोगी। खट रस बिंदक चतुर सो भोगी (पद्मा० छ० ३१९)। इस प्रकार योग और भोग की चर्चाएँ अन्य प्रेमाख्यानों में भी मिलती हैं। पर कुतुबशतक के कवि ने उन्हें अभिनव स्वरूप प्रदान किया है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रस्तुत रचना में सूफ़ी प्रेमदर्शन को ही प्रस्तुत किया गया है जिसमें प्रेममार्ग के अनुसरण द्वारा ही योगमार्ग की चरमोपलब्धि प्राप्त करने का सांकेतिक ढग से प्रतिपादन किया गया है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित है कि कुतुबशतक के प्रकाशन द्वारा १५०० ई० के आसपास की खड़ीबोली की एक अज्ञात कड़ी की ही उपलब्धि नहीं हुई है प्रत्युत काव्यरूप और कथा-प्रतीक की अपनी नवीनता से युक्त एक अद्भुत और महत्वपूर्ण सूफ़ी प्रेमाख्यानक कृति हमारे सामने आई है जो इस बात का संकेत करती है कि इस प्रकार की प्रेमाख्यानक कृतियों की भी कोई न कोई परंपरा अवश्य रही होगी।

ग्रंथ समीक्षा

मोग्गल्लान व्याकरण—संपादक तथा अनुवादक—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्रकाशक—विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशिआरपुर, १९६५, पृ० २०+३६९ , मूल्य ५.५० रुपया।

सुभूति ने अपनी नाममाला की भूमिका में पाली के पचास से भी अधिक व्याकरणों का उल्लेख किया है। उनमें से तीन कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने व्याकरण की तीन विभिन्न परंपराओं का सूत्रपात किया है। ये तीन कृतियाँ हैं: कच्चायन व्याकरण, मोग्गल्लान व्याकरण तथा सद्दनीति। इसमें से प्रत्येक से संबधित विस्तृत साहित्य उपलब्ध है।

पालि व्याकरण संस्कृत व्याकरणों को आदर्श मानकर लिखे गए। उनके रचयिताओं ने पाणिनि, कातंत्र तथा चांद्र व्याकरणों का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया है और मोग्गल्लान व्याकरण भी इसका अपवाद नहीं है। इन व्याकरणों में कच्चायन व्याकरण निश्चित रूपसे पुराना है किन्तु उससे मोग्गल्लान श्रेष्ठ प्रतीत होता है क्योंकि इसमें भाषा सामग्री अपेक्षाकृत अधिक है तथा उसका अधिक आलोचनात्मक ढंग से उपयोग किया गया है। इन विशेषताओं के फलस्वरूप पालि का स्वरूप इसमें अधिक स्पष्ट है।

प्रस्तुत कृति तथा उसकी वृत्ति की रचना मोग्गल्लान ने सिंहल के राजा परक्कमभुज अर्थात् पराक्रमबाहु प्रथम के शासनकाल में बारहवीं शती में की थी। इस कृति का दूसरा नाम सद्दलक्खण भी है। संस्कृत और पालि के प्राचीन व्याकरणों के अतिरिक्त इस व्याकरण में चान्द्र व्याकरण से अधिक सहायता ली गई है। कृति में अनेक ऐसे सूत्र मिलते हैं जो चान्द्र व्याकरण से लिए गए हैं—पालि शब्दों के अतिरिक्त वे हू-ब-हू चान्द्र व्याकरण से मिलते हैं। विद्वान संपादक कृति में आए ऐसे समस्त स्थलों का उल्लेख कर देता तो अच्छा होता। जैसा कि डा० शास्त्री ने कृति की भूमिका में पाणिनि व्याकरण के संबंध में किया है। इस प्रसंग में ओटो फ्रांके के जर्नल आफ पालि टैक्स्ट्स सोसाइटी (१९०२–१९०३) में प्रकाशित लेख का संकेत करना उचित है जिसमें इस विषय की विस्तृत चर्चा की गई है।

पालि व्याकरणों में सामान्य रूप से जो त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं यह कृति भी उनसे मुक्त नहीं है तथापि इस कृति के महत्त्व और विशेषताओं को सबने स्वीकार किया है। दुर्भाग्यवश अभी तक इसका कोई अच्छा संस्करण सुलभ नहीं था जिससे ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति का उपयोग नहीं हो पा रहा था। प्रस्तुत संस्करण के संपादक ने कृति का ऐसा सुंदर संपादन करके पालि अध्ययन की दिशा में बहुत बड़ा कार्य किया है।

प्रस्तुत संस्करण में मोग्गल्लान के व्याकरण का पाठ देवनागरी अक्षरों में दिया गया है। मूल का हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। अनुवाद में मूल की अनेक गुत्थियाँ सुलझा दी गई हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। कृति में डा० शान्ति भिक्षु शास्त्री की हिन्दी में विद्वतापूर्ण भूमिका है, जिसमें पालि के अध्ययन की दृष्टि से कृति के महत्त्व पर प्रकाश डाला है

तथा कृति के विभिन्न अध्यायों का विश्लेषण करते हुए विशेषताओं को स्पष्ट किया है। पाणिनि की कृति से मोग्गल्लान कितने उपकृत हैं, यह भी दिखाया है।

कृति के अंत में दो अत्यंत उपयोगी परिशिष्ट दिए गए हैं।

संपादक के हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने हमें ऐसा उत्तम संस्करण दिया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति को प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक भी हमारी बधाई के पात्र हैं।

—विश्वनाथ बैनर्जी

'अहं मेरा गेय'—डा० राम गोपाल शर्मा 'दिनेश', साहित्य विज्ञान प्रकाशन, उदयपुर, प्रथम संस्करण, १९६९ ई० पृ० सं० ८०, मू० ६ रुपये।

समीक्ष्य संग्रह कविवर दिनेश की १९६८-६९ तक की पैंतालीस छोटी कविताओं का संकलन है। संग्रह की पाँच पृष्ठों वाली लंबी कविता के शीर्षनाम पर ही संग्रह का शीर्षाभिधान 'अहं मेरा गेय' किया गया है। भोक्ता और प्रस्तोता कवि का मूल भाव 'अहम्'—इदम् के समानान्तर चलता है, जिसमें बार बार कवि ने अपनी ही व्यक्ति जिजीविषा का आद्यान्त पुनः पुनः उच्चार किया है

मानव की अजेय भावक्रांति और उसका दुर्द्धर्ष पराक्रम इतिहास के पृष्ठों और श्रुतियों-गाथाओं में जिस रूप में रक्षित है, कवि ने व्यक्ति आग्रह बोध के कारण ठीक उसी रूप में इसे नहीं अपनाना चाहा है। प्राचीन भारतीय चरित्रों का लेखा जोखा जिन नूतन एवं विभिन्न परिवेश - परिप्रेक्ष्यों में किया गया है—वे अहम् बोध की कसौटी पर कसे जाने के कारण अपना समग्र प्रभाव स्थापित करने के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं - तादात्म्य बोध, सह अनुभूति या साधारणीकरण की चर्चा इसीलिए उठायी भी नहीं जानी चाहिए। पाठक इसीलिए अतीत और वर्तमान दोनों की इयत्ता-सत्ता से कुछ भी ग्रहण कर पाने में अक्षम है, यहां यह भी उल्लेख योग्य है कि कवि 'दिनेश' ने भूत और वर्तमान की चित्राकर्षता या व्यामोह में अपनी भविष्यद्दृष्टि खो दी है। वे 'निर्माण की अधीरता और भविष्य को स्वरूप दे पाने के' अभाव से पीड़ित हैं। संग्रह शाश्वत सशक्त कला या भावबोध एवं युगसचेतना की व्यापक कटुता की विडम्बना से परिचित कराने में असमर्थ है।

कवि को नेता के मंच पर प्रतिष्ठित करानेवाली समसामयिक और समस्यामूलक कविताओं से सम्पृक्त होना आज के पाठक पसंद नहीं करेंगे। संग्रह के शीर्षक के साथ भी कुछ ही कविताएं और इनकी भी कुछ ही पंक्तियां अपना सहयोग बंटा पाई हैं। शब्द-सामर्थ्य का पर्याप्त अभाव लक्षित किया जा सकता है और बार-बार राकेट, तोप, एटम, बम, सैबर जेट, बंदूक और अंत में मृत्यु जैसे शब्दों के प्रयोग में काफी जल्दबाजी की गई है। आधुनिक भरूप लेखन का आदर्श उपस्थित करने की भीड़ भरी होड़ में कवि ने कुछ नये बिम्बों की उद्भावना भी की है। सूर्य, (यह शब्द नये खेमावादी कवियों द्वारा अंधाधुंध प्रयुक्त हुआ है—और हो रहा है)

अमृत, विष, आंधी, लहरें, आकाश, आवाज, प्रार्थना, 'मैं-तुम' आदि शब्दों में नये अर्थ ढूंढे और गूंथे गए हैं। अत: अनायास-सायास कुछ प्रभावपूर्ण चित्र परिदृश्य धारवाही चित्रकला (स्क्राल पेंटिंग) की भांति पृष्ठ पटल पर उठते गिरते, डूबते-तिरते नजर आते हैं। सम्प्रतः कविलेखनी को श्रेय-प्रेय के जिस चौखटे (मास्क) में फिट कर संतोष धारण कर लिया गया है—यह मात्र प्रकाशकीय है—पाठकीय नहीं। पाठकों के विकल्प का निर्वाह वैचारिक धरातल पर कवि हेतु औपचारिक आभार प्रदर्शन मात्र ही हो सकता है, जो अद्यतन कविता-वादियों की नियति बन चुकी है। संचित सहानुभूति का यह बंधा-बंधाया प्रदर्शन लेखक, पाठक या आलोचक के आपसी विलगाव की एक अच्छी खासी पृष्ठभूमि तैयार कर चुका है।

भोगे गए ईमानदार और अविघटित क्षणों का प्रच्छलन-प्रतिफलन इन कविताओं में अधिक मुखर हैं—'वे कहते हैं', 'संदर्भों के भटकाव', 'गेय अगेय', 'टूटते पुल', 'एक संध्या' आदि में। किन्तु प्रत्येक कविता कवि के अधिनायक व्यक्तित्व और उनके एकाकी अमूर्त 'अहं' का अनुक्षण परिचय देती चलती है—पाठकों की संवेदनाओं पर इससे कितने दस्तक पड़े हैं—इस ओर से कवि उदासीन है। कवि के व्यक्ति सापेक्ष महत्व निर्धारण में यह संग्रह कवि के 'अहं' का दस्तावेज सिद्ध होगा।

संग्रह साधारण कागज, प्रूफ की अशुद्धियों, कलात्मक आवरण पृष्ठ का अभाव—लिये, मुद्रण संबंधी ढेरों असावधानियों से भरा पड़ा है। मूल्य में एक तिहाई वृद्धि अनावश्यक है, क्योंकि सहृदय पाठकों को इसे खरीदने के लिए अतिरिक्त साहस की आवश्यकता पड़ेगी।

—रणजीत कुमार साहा

यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—ले० डा० गोकुलचंद्र जैन, प्रकाशक—सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर प्राप्तिस्थान—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५, १९६७ ई०, पृ० सं० ३३३ + चित्रफलक तथा अनुक्रमणिका पृ० ५८, मूल्य बीस रुपये।

यशस्तिलक चंपू सोमदेव सूरि (९५९ ई०) की रचना है। यशस्तिलक समसामयिक संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। उसकी कथा जैन संप्रदाय में अत्यंत प्रिय यशोधर के चरित्र से संबंध रखती है। यशोधर को लेकर अनेक सुंदर कृतियों का प्रणयन जैन लेखकों ने किया है, डा० जैन ने ऐसी ५४ कृतियों की सूचना दी है। उसकी कथा के माध्यम से अहिंसा के महत्त्व को तथा हिंसा से होनेवाले भयंकर परिणाम को समझाया गया है। यशोधर तथा उसकी माता चन्द्रमति ने चंडमारी देवी को प्रसन्न करने के लिए आटे के मुर्गे की बलि दी थी फलस्वरूप उन्हें छ जन्मों में पशुयोनि में भटकना पड़ा। यशस्तिलक के चार आश्वासों में यही कथा है। प्रथम भूमिका स्वरूप है और अंतिम तीन में श्रावकों

के आचरण से संबंधित प्रसंग हैं। यशस्तिलक जैसी उच्चकोटि की कृति को जैसा लोकप्रिय होना चाहिए था वैसी नहीं हुई, इसके जो भी अन्य कारण हों किन्तु एक तो यह है कि वह कृति सरल नहीं है, दूसरा कारण यह है कि विद्वानों ने उसका विधिवत् अध्ययन नहीं किया, यहाँ तक कि उसका कोई अच्छा संस्करण भी उपलब्ध नहीं है। प्रो० हन्दिकी ने उसका अध्ययन 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' शीर्षक अपनी कृति में किया था। अत. डा० जैन की कृति एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है।

संस्कृति के विभिन्न पक्षों की प्रचुर सामग्री यशस्तिलक में उपलब्ध है। उपयुक्त शीर्षकों में विभाजित करके डा० जैन ने उस सामग्री का बड़ा ही व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। सामग्री का विभाजन इन पाँच शीर्षकों के अंतर्गत हुआ है—यशस्तिलक के परिशीलन की पृष्ठभूमि, यशस्तिलक कालीन सामाजिक जीवन, ललितकलाएं और शिल्पविज्ञान, सोमदेवकालीन भूगोल, तथा यशस्तिलक की शब्द सपत्ति। समसामयिक अन्य किसी भी रचना की तुलना में प्रस्तुत कृति में सांस्कृतिक सामग्री बहुत है उदाहरण के लिए समसामयिक मत मतान्तरों, भिक्षुओं, कापालिकों, कौलसम्प्रदाय, नास्तिक, परिव्राजक, महाव्रती इत्यादि के संबध में अनेक रोचक उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार गृहस्थों के पारिवारिक जीवन, पाकविज्ञान और खान-पान से संबधित अनेक सूचनाएं मिलती हैं। स्वास्थ्य, रोग, परिचर्या से संबध रखनेवाले नाना प्रसंग कृति में बिखरे हुए हैं। वस्त्र, वेषभूषा, आभूषण, प्रसाधन सामग्री सभी की सूक्ष्म जानकारी सोमदेव ने दी है। शिक्षा, साहित्य विषयक सूचनाओं में व्याकरण के आचार्यों में इन्द्र, जैनेन्द्र, चन्द्र, आपिशल पाणिनि तथा पतजलि के उल्लेख किए हैं, गणितशास्त्र के आचार्यों में भिक्षुसूत्र और परिरक्षक के उल्लेख किए हैं, प्रमाणशास्त्र के भट्ट अकलक तथा गजविद्या, अश्वविद्या आयुर्वेद के अनेक ज्ञात अज्ञात आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। कवियों में ऊर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि,, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, राजशेखर, ग्रहिल, नीलपट, वररुचि, त्रिदश, कोहल, गणपति, शंकर, कुमुद तथा कैकट। इनमें से अनेक कवियों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सोमदेव ने स्वयं इन कवियों की कृतियों को देखा था या परंपरा के आधार पर उन्होंने इनका उल्लेख किया है यह कहना कठिन है। उदाहरण के लिए गुणाढ्य के उल्लेख को लिया जा सकता है। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में गुणाढ्य की मूलकृति से कुछ अवतरण दिए हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भोज के सामने बृहत्कथा अपने मूलरूप में उपस्थित थी। सोमदेव ने जिन कृतिकारों का उल्लेख किया है उनकी रचनाओं से प्राय उद्धरण नहीं दिए, अत यह कहा जा सकता है कि ऊर्व, कण्ठ, त्रिदश शंकर, कुमुद, कैकट का उनके समय तक स्मरण किया जाता था, उनकी रचनाएं कदाचित् उपलब्ध नहीं रह गई थीं।

चित्रकला, वास्तु-शिल्प के विषय में भी कृति में बहुत जानकारी मिलती है, इसी प्रकार भारत के जनपदों, नगरों, ग्रामों, वन, पर्वतों, सरोवर, नदियों का उल्लेख किया गया है। डा० जैन ने बड़े ही परिश्रम से यशस्तिलक की अत्यत समृद्ध और महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक निधि को सुलभ किया है। ग्रंथ की शैली विद्वतापूर्ण और बोधगम्य है।

चंपू भारतीय साहित्य की एक विशेष विधा है। इस विधा की परंपरा पर्याप्त पुष्ट रही है। मध्ययुग में अनेक चंपूकाव्य लिखे गए। सभी चंपू काव्यों में एक सामान्य विशेषता मिलती है अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिए कदाचित् चंपू काव्यों के रचयिता अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं और अपनी बहुश्रुतता का परिचय देने के लिए नाना शास्त्रों की चर्चा करते हैं। यह सभी सामग्री प्रामाणिक ही हो—ऐसा विचार करना भ्रमपूर्ण होगा। मध्ययुग के कुछ चंपूकाव्यों में ऐसे शब्द-प्रयोग मिलते हैं जो अन्य समसामयिक काव्यों में नहीं मिलते। निश्चय ही वे किन्हीं कोशों से लिए गए होंगे। डा० जैन ने यशस्तिलक में प्रयुक्त शब्दों के विषय में अपना मत ठीक ही स्थिर किया है, "यशस्तिलक संस्कृत के प्राचीन, अप्रसिद्ध, अप्रचलित तथा नवीन शब्दों का एक विशिष्ट कोश है"। सोमदेव ने स्वयं भी यह घोषणा की है कि 'काल के कराल व्याल ने जिन शब्दों को चाट डाला उनका मैं उद्धार कर रहा हूँ। शास्त्र-समुद्र के तल में डूबे हुए शब्द-रत्नों को निकालकर मैंने जिस बहुमूल्य आभूषण का निर्माण किया है, उसे सरस्वती देवी धारण करे।' डा० जैन ने ऐसे शब्दों की कृति के अंत में सूची दी है—और शब्दों का संक्षिप्त अर्थ भी दिया है। यह अध्ययन और विस्तृत होता तो अच्छा रहता। संभव है अन्य चंपू काव्यों से तुलना करने पर कुछ शब्दों के अर्थ और भी स्पष्ट हो सकते। कुछ शब्दों के अर्थ ज्ञात हैं किन्तु फिर भी पूर्ण प्रकाश नहीं डाला गया है यथा—काकतालीय न्याय का जो अर्थ दिया है—'कौआ ताल पर आकर बैठा और ताल का फल गिरा'—उसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी देना चाहिए था जिसका उल्लेख महाभाष्य तथा पीछे सिद्धान्त कौमुदी में मिलता है—'अकस्मात् कौए का आगमन और उसके ऊपर ताल का गिरना तथा उसका मरना'।

हमें आशा है डा० जैन की कृति का विद्वत्समाज में आदर होगा।

रामसिंह तोमर

सूफी-काव्य-विमर्श—ले० डा० श्याममनोहर पाण्डेय, प्रका०—विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६८, पृ० सं० २४८, मूल्य—६ रुपया।

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी सूफ़ी-काव्य का अध्ययन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे किया गया है। पाठ-संशोधनसे लेकर सूफ़ी-काव्यों की बारीकियों, सूफ़ी दर्शन आदि से संबंधित कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। हिंदी सूफी-साहित्य के अध्येताओं में डा० श्याममनोहर पाण्डेय का नाम अत्यन्त सुपरिचित है। उनकी थीसिस 'मध्ययुगीन प्रेमाख्यान' एक विस्तृत क्षेत्र को अपनाए हुए है।

उनकी इस नई पुस्तक 'सूफ़ी-काव्य-विमर्श' की सीमा, जैसा कि उन्होंने स्वयं भूमिका में लिखा है, विशद नहीं है। इस पुस्तक में डा० पाण्डेय ने दाऊद, कुतुबन, जायसी तथा मंझन की कृतियों की महत्त्वपूर्ण समस्याओं की छानबीन की है और उनके संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। यह पुस्तक समय-समय पर प्रकाशित उनके शोध-निबंधों का संकलन है। इस पुस्तक में संकलित अधिकांश निबंध मंझन की जीवनी, उनके गुरु तथा मंझन की एकमात्र

उपलब्ध कृति 'मधुमालती' को लेकर लिखे गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मंझन संबंधी कुछ तथ्यों को प्रकाश में लाने का जो प्रयास लेखक ने किया है वह स्तुत्य है। उनके गुरु शेख मुहम्मद गौस के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं। लेखक ने बड़े ही सुंदर ढग से मंझन की गुरु-संबधी यत्र तत्र बिखरी सूचनाओं का निर्देश किया है। हिन्दी सूफ़ी साहित्य में रुचि रखनेवालों के लिये मंझन के संबध में कुछ अच्छी सामग्री इस पुस्तक में मिल जायगी। पुस्तक के अंत में लेखक ने सूफ़ीमत, दर्शन और साहित्य से संबधित चुनी हुई पुस्तकों की जो सूची दी है वह बड़े काम की है।

इस पुस्तक में और भी कई विवादास्पद विषयों की चर्चा की गई है। मेरी राय में उन विषयों के सबंध में और भी अधिक विचार करने की आवश्यकता थी। उदाहरणस्वरूप, पद्मावत का रचनाकाल लेखक के मतानुसार १५४० ई० है (भूमिका, पृ० ३), इस पर नाना प्रकार से विद्वानों ने विचार किया है और अधिकांश इस तिथि से सहमत नहीं है। लेखक के लिये यह उचित होता कि इन मतों की विवेचना करता और तब किसी परिणाम पर पहुँचता। इसी प्रकार उसी पृष्ठ पर जायसी की दो गुरु परंपराओं का भी उल्लेख है। इस मत का भी कुछ लोगों ने खडन किया है और जायसी के एक ही गुरु होने की बात मानी है। उस मत को भी ध्यान में रखकर अपने मत की पुष्टि करना लेखक के लिये आवश्यक था।

इस पुस्तक में उन स्थलों पर सबसे अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता थी जहाँ पर लेखक ने मौलाना दाऊद कृत 'चदायन' और कुतुबन कृत 'मृगावती' के दो संस्करणों की तुलना की है। बहुत से स्थलों पर लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि एक सस्करण के पाठ से दूसरे संस्करण के पाठ को क्यों वह शुद्ध और वैज्ञानिक मानता है। पुस्तक के पृष्ठ २८-३१ इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं। पृ० ६८ पर 'मृगावती' के संस्करणों की चर्चा करते समय भी लेखक ने अपने विचार कुछ इस प्रकार से प्रकट किए हैं जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। तुलना सबंधी इन अशों को बहुत संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता।

बारहमासा की परपरा और 'पद्मावत' शीर्षक निबध उल्लेखनीय हैं। निबंध में बारहमासों की परंपरा पर सुंदर ढग से प्रकाश डाला गया है लेकिन लेखक से इस बात की शिकायत हो सकती है कि 'फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ', 'मधुमालती में प्रेम और दर्शन' तथा 'जायसी की प्रेमसाधना' निबधों में सूफ़ियों के दर्शन, प्रेम और विरह संबंधी मतों को समुचित रूप से ध्यान में नहीं रखा गया है। पुस्तक की उपादेयता निस्संदेह है। सूफ़ी-साहित्य में रुचि रखने वालोंके लिये यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

रामपूजन तिवारी

संपादकीय

प्रस्तुत अक के साथ विश्वभारती पत्रिका दसवें वर्ष में प्रवेश कर रही है। हमें प्रसन्नता है कि विद्वानों का सहयोग पत्रिका को मिल रहा है तथा अन्य अनेक हमारे शुभैषी पत्रिका की सहायता कर रहे हैं। इस सब के होते हुए भी हमें ऐसा अनुभव हो रहा है कि सांस्कृतिक और शोधपरक पत्रिकाओं के लिए वातावरण बहुत अनुकूल नहीं है। ऐसी पत्रिकाओं के ग्राहक सीमित रहते हैं और विज्ञापन से इनकी आमदनी होती नहीं। कागज के मूल्य, डाकदरें प्रतिवर्ष बढ़ जाती हैं। इन सब कठिनाइयों के रहते हुए भी हम वातावरण को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और हमें इसमें काफी सफलता मिली है। पत्रिका के सामने किसी प्रकार का व्यापारिक दृष्टिकोण नहीं है। प्रतिवर्ष उसपर चार पांच हजार रुपये का घाटा रहता है। किन्तु प्रतिवर्ष घाटे की रकम में कमी हो रही है, इससे हमें विश्वास है कि कुछ वर्षों में पत्रिका आत्मनिर्भर हो सकेगी। पत्रिका को सहयोग देने वाले सभी महानुभावों के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हमें विश्वास है सभी का सहयोग हमें मिलता रहेगा।

स्व० डा० जाकिर हुसैन

मई ३ को डा० ज़ाकिर हुसैन का असामयिक आकस्मिक निधन होगया। उनके निधन का समाचार इतना अप्रत्याशित था कि सहसा उस पर विश्वास करना कठिन था। जिस संस्कृति, जिन आदर्शों और नैतिक मूल्यों के वे एक प्रकार से प्रतीक थे—उनका लगता है, उनके साथ ही अवसान हो गया। उनके रिक्तस्थान की पूर्ति होना कठिन है। वे महान् शिक्षाशास्त्री, कुशल प्रशासक, सहृदय राजनीतिज्ञ और सबसे बढ़ कर एक अनुकरणीय पुरुष थे। जिस क्षेत्र में भी उन्होंने कार्य किया उस पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोडी। और जिन लोगों के साथ काम किया उनके विश्वासपात्र रहे। देश विदेश में उच्च शिक्षा प्राप्त करके वे सामान्य वेतन पर जामिया मिलिया के निर्माण में लगे रहे। बुनियादी शिक्षा का सुसंगठित रूप प्रदान करने के लिए वे महात्मा गांधी जी को अपना पूर्ण सहयोग देते रहे। उपकुलपति के रूप में अलीगढ़ विश्वविद्यालय की उन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवा की। राज्यपाल के पद पर बिहार में रहे, उपराष्ट्रपति और अंत में भारत के उच्चतम पद-राष्ट्रपति-को सुशोभित किया। जिस पद पर भी उन्होंने कार्य किया उसकी गरिमा और मर्यादा को उन्होंने अक्षुण्ण ही नहीं रखा अपितु उस पद की गौरव वृद्धि की।

विश्वभारती के साथ उनका संबंध बहुत घनिष्ठ था। राष्ट्रपति के रूप में वे विश्वभारती के परिदर्शक (विजिटर) थे। परिदर्शक को हैसियत से उनके यहाँ पधारने की हमारा आशा पूरी नहीं हुई। जब वे बिहार के राज्यपाल थे तब सन् '६० में वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रधान अतिथि के रूप में शान्तिनिकेतन पधारे थे और समावर्तन समारोह के अवसर पर महत्त्वपूर्ण भाषण देते हुए जो कहा था उसमें शान्तिनिकेतन के प्रति उनकी श्रद्धा की झलक मिलती है। भाषण का प्रारंभ करते हुए उन्होंने कहा था, "शान्तिनिकेतन की यात्रा पवित्र स्थान की यात्रा है, यह एक तीर्थयात्रा है। मुझे प्रसन्नता है कि मैं अपने जीवन में और एक बार यह यात्रा कर सका। और चूंकि यह यात्रा विश्वभारती के समावर्तन समारोह के अवसर पर हुई है यह स्वाभाविक है कि हमारी दृष्टि कवि की कल्पना की ओर मुड़े जिसको विश्वभारती में साकार रूप देने का प्रयत्न किया जारहा है।"

विश्वभारती के साथ डा० ज़ाकिर हुसैन का संबंध बहुत पुराना था। विनयभवन (प्रशिक्षण विद्यालय) की परामर्शदात्री समिति के सदस्य के रूप में सन् १९४८-५० में वे कई बार शान्तिनिकेतन आए थे। वे गंभीर स्वभाव के व्यक्ति थे तथापि बड़े विनोदी भी थे। बंगाल की छोटी छोटी गायों को दूरसे देखकर उन्होंने एकबार कहा कि 'यहाँ की बकरियाँ काफ़ी बड़ी होती हैं।" जब लोगों ने कहा कि ये बकरियाँ नहीं—गाएँ हैं—तो मुस्कराने लगे। शिष्टता की वे प्रतिमूर्ति थे। एकबार शिक्षा के संबंध में वार्तालाप हो रहा था। डा० नीलरतन धर की किसी बात का डा० साहब समर्थन नहीं कर पा रहे थे तो अत्यंत शिष्टतापूर्वक बोले कि डा० धर की बात को काटना मेरे लिए कठिन है (आइ हेट टु कण्ट्रेडिक्ट डा० धर) किन्तु मैं सहमत नहीं हूँ। शिक्षाशास्त्री के रूप में उनका हृदय विशाल था। एक चर्चा में उन्होंने विद्वानों से कहा था कि सामान्य लोगों के लिए विद्वानों को सरलभाषा तथा सहज शैली में उच्चज्ञान उपलब्ध करना चाहिए। स्वयं उन्होंने इस दिशा में प्रयत्न किया था। उनका निर्मल चरित्र अनुकरणीय है। उनके उच्चादर्श हमें सदा प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे। हम अत्यंत श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करते हुए विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

गांधी शती विशेषांक

महात्मा गान्धी जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में विश्वभारती पत्रिका का एक विशेषांक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। पत्रिका के खण्ड १० का दूसरा अंक महात्मा गान्धी जन्मशती विशेषांक के रूप में निकलेगा। महात्मा गान्धी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर में घनिष्ठ मित्रता थी। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर दोनों महापुरुषों में मतभेद रहते हुए भी एक दूसरे के प्रति अनुपम सौहार्द था। दक्षिण अफ्रीका से पहली बार जब महात्माजी अपने फिनिक्स आश्रम के छात्रों को लेकर भारत लौटे थे तो शान्तिनिकेतन ही आए थे। फिर गुरुदेव के जीवनकाल में महात्माजी अनेक बार शान्तिनिकेतन आए और गुरुदेव के देहावसान के बाद उनके विद्यालय का महात्माजी ने ध्यान रखा। गुरुदेव के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर से भी महात्माजी का प्रगाढ़ परिचय था। इस अंक में इन महापुरुषों की मित्रता तथा उनके बीच हुए पत्राचार का पूरा प्रामाणिक विवरण रहेगा। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों के लेख तथा प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र रहेंगे। पृष्ठ संख्या साधारण अंक से अधिक रहेगी। विशेषांक का मूल्य बारह रुपये होगा। अंक सीमित संख्या में छपेगा। अतः क्रयेच्छु सज्जन शीघ्र सूचित करें। इकतीस अक्टूबर तक पत्रिका के ग्राहक बनने वालों को अंक उसी मूल्य में मिलेगा।

—रामसिंह तोमर

सूचना

विश्वभारती पत्रिका के वर्ष ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ के अंक उपलब्ध हैं। प्राप्ति के लिए व्यवस्थापक, विश्वभारती पत्रिका, हिंदी भवन, शान्तिनिकेतन से पत्र-व्यवहार करें। अंक पुस्तकालयों, तथा शोधार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रत्येक वर्ष के चारों अंकों का मूल्य ८/०० रु० है।